जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ११ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol X No I

Edited by

Prof Hiralal Jain M A LL B
Prof A N Upadhye M A D Litt
B Kamata Prasad Jain M R A S
Pt. K Bhujabali Shastri Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR INDIA

JUNE 1944

जैन-सिद्धान्त-भास्कर पर कुछ सम्मतियां

"जैन संशोधन का एकमात्र षाण्मासिक पत्र है। इसमें प्रकाशित लेख जैन साहित्य के लिये अमूल्य होते हैं।"

—जैनमित्र

"जैन समाज में पुरातत्त्व अन्वेषण सम्बन्धी लेखों को प्रकाशित करने में 'भास्कर' सफल रहा है। सम्पादक महोदयों का प्रयत्न सराहनीय है।"

—जैनसंदेश

"इसमें जैन पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजपूर्ण और ठोस सामग्री रहती है।"

—खण्डेलवाल जैन हितेच्छु

"इसमें सभी लेख अन्वेषणात्मक है। जैन समाज का एकमात्र ऐतिहासिक पत्र यही है। इसका स्थान वही है जो आधुनिक विश्वविद्यालयों में प्रकाशित खोजपूर्ण जर्नलों का है। अथवा यह भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि निष्पक्ष किसी भी अन्य मतावलम्बी विद्वान् के हाथ में देने योग्य जैन समाज का यही पत्र है। पत्र अत्यन्त उपयोगी है।"

—जैन महिलादर्श

"यह षाण्मासिक पत्र यथावत् अपनी उत्कृष्टता की रक्षा करता आ रहा है। लेखों में वैविध्यता एवं विद्वत्ता स्पष्ट झलक रही है।"

—अध्यात्मप्रकाश

"The paper, no doubt has been appreciated by the visitors very much."

—Ganga Saran Mathur
Librarian & Secretary
Maharaja's public Library, Jaipur.

Jaina Literature in Tamil अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से हम अच्छी तरह से जान सकते हैं कि प्राचीन तमिल साहित्य की उन्नति में जैनधर्म का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ है। उत्तर भारत के लोगो के लिये यह ग्रन्थ एक विशाल रत्न-राशि को प्रकट कर रहा है।

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ११] [किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥ एक प्रति का २)

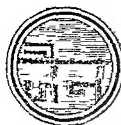
वि० सं० २००१

विषय-सूची

पृष्ठ सं०



श्रीजिनाय नमः



जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक पाण्मासिक पत्र

भाग ११ | जून, १९४४ । आषाढ, वीर नि० सं० २४७० | किरण १

भारत के विदेशी लोगों में जैनधर्म

[ले०—श्रीयुत कामताप्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस०]

कहा जाता है कि सिकन्दर महान् के पहले भारत के लोह-कपाट किसी ने नहीं खोले थे—भारत अजेय था। इस जनश्रुति में बहुत कुछ तथ्य है। जैनशास्त्रों में श्रीमुनि सुव्रतनाथजी के तीर्थकाल में म्लेच्छों के आक्रमण का उल्लेख है अवश्य, परन्तु वे म्लेच्छ भारत विजेता नहीं हुये। इतिहास से पता चलता है कि भगवान् महावीर के समय के लगभग ईरान के शाहों ने भारत पर आक्रमण किया था और उन्होंने पश्चिमोत्तर भारत के कुछ भाग पर अधिकार भी कर लिया था। किन्तु उनका अधिकार क्षणिक था—उन्हें शीघ्र सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार अथवा सम्राट् नन्दवर्द्धन ने परास्त कर दिया था[1]। इस प्रकार यद्यपि ईरानियों की यह भारत विजय क्षणिक थी, परन्तु इसने पारस्यवासियों (ईरानियों) और भारतीयों को एक दूसरे के सम्पर्क में ला बिठाया। उनमें परस्पर कटुता नहीं बढ़ी, बल्कि सांस्कृतिक आदान प्रदान बढ़ा। भारतीय संस्कृति से ईरानी और उनके साथी प्रभावित हुये। जैन-शास्त्रों से हमें पता चलता है कि सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के युवराज अभयकुमार की मित्रता पारस्यदेश के आर्द्रक नामक राजकुमार से हुई थी। अभयकुमार भगवान् महावीर की शरण में पहुंचे और मुनि हो गये। आर्द्रक ने जब यह सुना तो वह भी भगवान् की शरण में आया—वीर प्रभु पतितपावन थे—उनका उपदेश आर्य और अनार्य सब के लिये समान रूप में होता था। उन्होंने आर्द्रक को भी प्रव्रज्या दी—वह जैन मुनि हो गये[2]। इसी समय फणिक (Phoenecia) देश के बहुत से व्यापारी भारत के सम्पर्क में आये थे। उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध भी होते थे। एक कथा से प्रकट है कि सागरदत्त सेठ की पत्नी धणिका (फणिकदेशवासी) थी और उनका पुत्र धणिक

१ मॉडर्नरिव्यू, नवम्बर १९३० पृ० ५३८ व जर्नल ऑव दी बिहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी भा० १ (१९१५) पृ० ८०

२ डिक्शनरी ऑव जैन बॉयोग्रेफी (आरा) पृ० ११ व ५२

(फणिक) हुआ। फणिक देश की माता के कारण पुत्र का फणिक नाम से प्रसिद्ध होना स्वाभाविक था। वह फणीश्वर अर्थात् फोनीशिया (Phoenecia) के अधिवासी लिखे भी गए है। वह पणिक एक समय भगवान् महावीर के समवशरण में पहुँचा और मुनि हो गया। जब वह पणिक मुनि नाव में बैठे गंगा नदी को पार कर रहे थे, तब नाव पर से ही मुक्त हुये—आज वह सिद्ध परमात्मा के रूप में हमारे मंदिरों में पूजे जा रहे हैं।[१] यह थी जैनधर्म की विशालता भगवान् महावीर के समय में। तब जैन संघ व्यवस्थित था—उसमें मुमुक्षुओं को पहचाननेवाले और उन्हें जैनधर्म की दीक्षा देकर संघ में मिलाने वाले आचार्य विद्यमान थे— वह जैनधर्म की विशालता को अक्षुण्णवनाये हुये थे।

उपरान्त सब से पहला आक्रमण भारत पर यवन सम्राट् सिकन्दर. महान् का हुआ था। सिकन्दर जब तक्षशिला के पास पहुँचा तो उसे बहुत से दिगम्बर साधु मिले। उनमें जैन श्रमण भी थे[२]। सिकन्दर ने उनके प्रकाण्ड ज्ञान और अतुल तपस्या की बात सुनी—वह प्रभावित हुआ और ओनेसिक्रिटस (Onesikritos) नामक अफसर को उनका हालचाल लेने के लिये भेजा था। उसने दिगम्बर मुनियोंसे वहुत सी बातें पूछीं और जब उन्होंने यह कहा कि वह भी दिगम्बर मुनि हो जावे, तो वह असमसंजस में पड़ गया।[३] निस्सन्देह जैनसंघ का द्वार उस समय प्रत्येक मनुष्य के लिये खुला था—यूनानियों ने भी यही लिखा है।[४] उस समय जैनधर्म के प्रभाव से वे वञ्चित नहीं रहे थे।

यद्यपि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों को परास्त करके भारत से उनके शासनाधिकार का अन्त कर दिया था; परन्तु यूनानी सम्पर्क के प्रभाव से भारत नहीं बचा। भारत पर यूनानी शिल्पकला का किञ्चित् प्रभाव पडा। परन्तु यूनानी भारतीय धर्म और संस्कृति से खूब ही प्रभावित हुये। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यूनान की राजकुमारी के साथ विवाह कर के एक आदर्श उपस्थित किया, जिसका अनुकरण उपरान्तकाल में खूब हुआ। उधर अनेक भारतीय यूनानी जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझ कर जैनी बन गये[५]। बौद्ध ग्रंथ

---

१ आराधना कथाकोष; व 'भ० पार्श्वनाथ' पृ० १९९-२००

२ 'भारत के श्रमण नग्न रहते, कठिन परीषह सहन करते और किसी का निमंत्रण स्वीकार नहीं करते है। उनकी मान्यता जनसाधारण में खूब है।' —मेडक्रिंडिल ऐंशियेंट इंडिया पृ० ६९

'भारत के साधु नग्न रहते और कोहकाफका बर्फ तथा सर्दी का वेग बिना संक्लेश परिणामों के सहन करते हैं और जब वे अपने शरीर को अग्नि के सुपुर्द कर देते हैं और वह जलने लगता है, तो उनके मुख से एक आह भी नहीं निकलती है।' —Ibid p 68,

इसमें जैन व्रत सल्लेखना का उल्लेख किया गया है। अन्त समय को ठीक जानकर उसे धारण किया जाता है।

३ Ibid p 70.

४ Ibid p 167 व 'वीर' वर्ष ४ पृ० २३०—२३४

५ Historical Gleanings, p 78

'मिलिन्दपण्ह' से स्पष्ट है कि यवनराज मिलिन्द (Menander) पाच सौ यूनानियों के साथ जैन मुनियों के पास सिद्धान्तचर्चा करने गया था और उनमें से अधिकाश यूनानी जैनी हो गये थे।[1]

यूनानियों की भाति शकवश के विदेशी लोग भी जैनधर्म के ससर्ग में आये थे। 'कालककथानक' से स्पष्ट है कि ई० पू० सन् १२३ के लगभग ६६ शाही (शक) कुलों को वह सौराष्ट्र ले आये थे और उनको जैनधर्म से प्रभावित किया था।[2]

कुशनवश के राजाओं के शासनकाल में जैनधर्म की उन्नति विशेष थी। उस समय मथुरा जैनधर्म का केन्द्र था और वहा पर विदेशी लोगों की सख्या भी अधिक थी। शिलालेखों से पता चलता है कि वे विदेशी जैनधर्म के प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे।[3] हाल में ही प्रो० लुडर्स ने मथुरा के ककालीटीला से प्राप्त जैन मूर्तियों पर के लेखों से उन विदेशियों का जैनी होना सिद्ध किया है। उन्होंने एक शिलालेख को निम्न प्रकार पढा है —

१ नम स्वर्वसीधना आरहत्वना महाराजस्य राजातिराजस्य स्वरवच्छर स्वते
२ २००, ९० (२) हमतमासे २ दिवसे १ आराहातो महावीरास्य प्रतिमा
३ 'स्य ओखारिकाये वितु उभ्भतिकाय च ओखाए स्वाविका भगीनिये
४ शीरिकास्य शिवदीनास्य च एतेह् आराहाताय ताने स्थापिता
५ देवकुल च।

इस लेख का भावार्थ यह है कि 'सर्व सिद्धों को और अर्हंतों को नमस्कार हो। महाराज राजातिराज के शासन वर्ष २९२ (वर्ष) हेमत के दूसरे महीने के पहले दिन को अर्हत् महावीर की एक प्रतिमा ओखारिका और उसकी पुत्री उज्भतिका एव श्राविका भगी ओखा और शिवदीन ने दान की थी—अर्हंतों के पवित्रस्थान पर उसे स्थापा था।'

इस लेख की भाषा और नामों के आधार से प्रो० लुडर्स सा० इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस महावीर प्रतिमा के सस्थापक दातार पारथीय यवन (Parthians) थे। इसमें जिस रीति से वर्ष और सवत् का उल्लेख है वह विदेशी रीति है। साथ ही इसमें जो विकृत रूप है वह लेखक की गलती से नहीं, बल्कि भाषा के उच्चारण का द्योतक है। पारथीय यवन अथवा शक लोग 'श' का अधिक उच्चारण करते थे। 'सर्वसिद्धान' पद का उच्चारण उन शकों के मुह से 'स्वर्वशीधना' होना स्वाभाविक था। 'स' को 'स्व' और 'अ' को 'आ' रूप में वे बोलते थे। यह उच्चारण भेद ठीक वैसा ही था जैसा

१ मिलिन्दपण्ह १०८
२ सक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खड २ पृ० १२—१४
३ Ibid p 17 18

कि आज एक बंगाली के मुंह से हिन्दी का उच्चारण होता है और वह 'प्रसाद' को 'प्रोसाद' कहता भी और लिखता भी है। इसके अतिरिक्त 'ओखारिका' और 'ओखा' नाम ग्रीक भाषा और देश के नाम 'यूखारिया' और 'यूखे' (Eucharia & Euche) के द्योतक है। उज्झतिका भी यवन नाम है[१]। केवल शीरिक और शिवदीन भारतीय नाम हैं। पुरुषों के नामों का भारतीयकरण जल्दी हो जाता है और हमें शक राजाओं में रुद्रसिंह, ऋषभदत्त आदि नाम मिलते हैं। स्व० श्रीदयारामजी साहनी ने मथुरा के एक अन्य जैन लेख में[२] ओखारिका नाम पाया था। यह लेख इस प्रकार है[३]—

'दिमित्रस्य धितु ओखरिकाये कुटुविनिये दताये दानं वर्धमान प्रतिमा प्रतिथापिता।'

इस लेख में दिमित्रय शब्द बिल्कुल यवन (Greek) नाम है। इस इंडोग्रीक नाम (Demeterios) का एक इंडोग्रीक राजा भी हुआ है। परन्तु उक्त लेख में किस दिमित्रयका उल्लेख है यह स्पष्ट नहीं है। इसमें उल्लेख है कि दिमित्रय की पुत्री ओखरिका और उसकी पत्नी दत्ता ने वर्द्धमान भगवान् की प्रतिमा स्थापित की थी। यह ओखरिका उपर्युक्त ओखरिका से भिन्न है। इस लेख से एवं चरसद्दा से प्राप्त एक खरोष्टी भाषा के लेख से स्पष्ट है कि ओखादि नाम मूलतः यूनानी (Greek) हैं। अतः उपर्युक्त प्रतिमाओं के संस्थापक पारथीय (Parthian) विदेशी थे, जो जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे।

छत्रप राजाओं में नहपान और रुद्रसिंह का सम्बन्ध भी जैनधर्म से था। 'आवश्यक-निर्युक्ति' आदि जैन ग्रन्थों से स्पष्ट है कि नहपान ने धर्मप्रभावना में बहुत धन खर्चा था। रुद्रसिंह का एक भग्न शिलालेख मिला है जिसमें 'केवलज्ञानसम्प्राप्ताणां' पद भी प्रयुक्त हुआ है, जो उनके जैनत्व का द्योतक है। उन्होंने जैन मुनियों के लिये गिरिनार के पास गुफायें बनवाईं थीं।[४]

श्वेताम्बराचार्य उद्योतनसूरि की 'कुवलयमाला' से स्पष्ट है कि चन्द्रभागा नदी के तट पर पव्वइया नगरी में श्री तोरराय राजा राज्य करते थे। उनके गुरु हरिगुप्त के शिष्य महाकवि देवगुप्त थे। (तस्स गुरू हरिउत्तो आयरियो आसि गुत्त वंसाओ) विद्वानों की दृष्टि में उपर्युक्त तोरराय राजा हूणलोगों का नेता तोरमाण है और राजर्षि देवगुप्त गुप्तवंश के रत्न थे।[५] अतः हूण जातीय विदेशियों में भी जैनाचार्य जैनधर्म का प्रचार करने में सफल हुए थे।

---

१ *Luders*, D. R. Bhandarkar volume (Culcutta) pp 280—289.

२ *Sahni*. Epigraphica, Indica, Vol XIX, p. 67.

३ 'भाण्डारकर वॉल्यूम' में ही प्रो० स्टेनकोनो ने चरसद्दा के एक शिलालेख में छत्रप अवखा नाम पढ़ा है, जो स्पष्टतः ग्रीक नाम है। इस लेख मे भी वर्ष का उल्लेख जैन लेख के अनुरूप है। अतः इसे पारथीय लोगों का मानना ठीक है।

४ संक्षिप्त जैन इतिहास (सूरत) भा० २ खंड २ पृष्ठ २०—२६

५ शाह, जैनिज्म इन नॉर्थ इंडिया, पृ० २१०—२१३

मुसलमान बादशाहों के मध्य भी जैनाचार्यों ने धर्म प्रचार करने का उद्योग किया था,[1] परन्तु उनमें शायद ही कोई जैनधर्म में दीक्षित हुआ था। हाँ, जैनधर्म से वह खूब ही प्रभावित हुये थे। सम्राट् अकबर के लिए तो लोग कहने लगे थे कि वह जैनी हो गया है।[2] कई मुसलमान जैनी हुए थे, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। स० १६७० में दिल्ली के अब्दुर्रहमान फूलवाले ने स्थानकवासी जैनधर्म में दीक्षा ली थी। दिगम्बर सम्प्रदाय में जिनवक्सजी के पद भक्ति से पढ़े जाते हैं। जिनवक्सजी कट्टर जैनी हुए थे। हाल में ही एक मुस्लिम मास्टर सा० जैनी हो गए हैं और दृढ़ता से जैनधर्म पाल रहे हैं, किन्तु उनके साथ पहले जमाने जैसा उदारता का व्यवहार नहीं किया जाता है। पहले जैनाचार्य द्वारा नवदीक्षित जैनी का नूतन द्विज जन्म होता था और वह जैनसंघ में मिला लिया जाता था—उसके साथ कोई भेद भाव नहीं रक्खा जाता था। क्या जैनसंघ का वह प्राचीन उदार रूप फिर प्रकट होगा ? कुछ अंग्रेज भी जैनधर्म में दीक्षित हुए हैं।

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर में प्रकाशित हमारा पूर्व लेख देखिए—

२ सूरीश्वर और सम्राट् ग्रंथ देखो।

ज्ञानार्णव और उसके कर्त्ताके कालके विषयमें कुछ ज्ञातव्य बातें

(ले० श्रीयुत पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री, बनारस)

श्री स्याद्वाद विद्यालयके अकलंक सरस्वती भवनमें ज्ञानार्णवकी एक हस्त लिखित प्रति है। यह विक्रम सम्वत् १६४४ की लिखी हुई है। इसमें करीब सवा फुट लम्बे और ६ इंच चौड़े साईज के १९६ पत्र हैं। इसके अन्त मे दो प्रशस्तियां दी हैं। पहली प्रशस्तिमें खासकर लिखानेवालेका और दूसरी प्रशस्तिमें जिसे यह प्रदान की गई है, उसका परिचय दिया है। ये दोनों प्रशस्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

(१) अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये शाके संवत् १६४४ वर्ष वैईशाख-वदि सोमवाशरे श्री शाही अवर (अकव्वर) राज्ये प्रवर्त्तिमाने श्रीमूत्काष्ठासंघे माथुरान्वय-पुष्करागणे श्रीज्योगिणीपुरवरे ब्रह्मकल्याण लिखापितं। लिषतं अनडूपुत्र देर्हदा सुमाली। श्रीशुभमस्तु। मांगलं दद्यात्।

(२) संवत् १६६२ वर्षे कार्तिकमासे शुक्लपक्षे शुभतिथौ श्रीखरतरगच्छे श्री जिन-प्रभाचार्यान्वये श्री जिनहितसूरिशाखायां श्रीमदभयचद्रोपाध्यायानां शिष्याः श्रीराजवर्द्धनगणय-तच्छिष्याः श्रीराजमेरवः तच्छिष्याः श्रीविनयराजगणयः तच्छिष्याः श्री शिवसुन्दरवाचकधुर्यः तेषां शिष्येण देवतिलकोपाध्यायेनेयं प्रतिगृहीता श्रीमदर्गलपुरे श्रीसंघेन दत्ता एकस्मात् पण्डित-पार्श्वाद् गृहीत्वा। शुभं कल्याणं भूयात् श्रीमदकव्वरराज्ये वर्तमाने।

दोनों प्रशस्तियोंका सार यह है—

(१) विक्रम संवत् १६४४ वसाख कृष्ण पक्ष सोमवार के दिन अकवर बादशाहके राज्यकाल में काष्ठासंघी माथुरान्वयी पुष्करागणी ब्रह्मकल्याणने ज्योगिनी नगरमें इस प्रतिको लिखाया। लेखक अनडूका पुत्र देर्हदा सुमाली है।

(२) खरतरगच्छ, जिनप्रभाचार्यान्वयकी जिनहितसूरि नामक शाखामें श्री अभयचन्द्र उपाध्याय हुए। इसके वाद उनके शिष्य राजवर्द्धन गणि हुए। अनन्तर इनके शिष्य राजमेरु हुए। अनन्तर इनके शिष्य श्री विनयराज गणि हुए। अनन्तर इनके शिष्य श्री शिवसुन्दर वाचकधुर्य हुए। इनके शिष्य श्री देवतिलक उपाध्यायने संवत् १६६२ के कार्त्तिक मासके शुक्ल पक्षकी शुभ तिथिमे यह पुस्तक ग्रहण की। उन्हें यह पुस्तक श्रीसंघने

अर्गलपुर (आगरा) में अर्पित की। श्रीसघने इसे एक पण्डित से प्राप्त की थी। उस समय अकबर का राज्य प्रवर्तमान था।

श्रद्धेय प्रेमीजीने अपनी 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकमें 'आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय' शीर्षक लेखमें ज्ञानार्णवमें 'उक्तंच' रूपमें उद्धृत किये गये 'समाकृष्य यदा' इत्यादि दो श्लोकोंको ज्ञानार्णवकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंमें देखनेकी प्रेरणा की है। ये दो श्लोक आचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रके मूलमें पाये जाते हैं। अतः यह बात विचारणीय हो जाती है कि क्या ये दो श्लोक स्वयं आचार्य शुभचन्द्रने योग शास्त्र से लिये हैं, या अन्य किसी टिप्पणकारने पीछे से इन्हें ज्ञानार्णवमें सगृहीत किया है ?

प्रेमीजीकी इस सूचनाकी ओर श्रीयुत प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य का ध्यान गया। पर कारणवशात् वे इस विषय पर कुछ लिख न सके। अतः उनकी प्रेरणासे मैंने ज्ञानार्णव की उक्त हस्तलिखित प्रतिको देखा। इससे मैंने जो विशेषताएं प्राप्त की हैं, वे क्रमशः नीचे दी जाती हैं—

(१)

यह प्रति वर्तमानमें छपे हुए ज्ञानार्णवसे कहीं अधिक शुद्ध है। बहुत देखने पर क्वचित् भूल नजर आती है। हमने स्वयं व विद्यालयके प्रधान स्नातक भाई अमृतलालजी शास्त्री के साथ इस प्रतिका मुद्रित ज्ञानार्णवसे मिलान किया है। पाठकोंकी जानकारीके लिये उसके कुछ पाठ जो मुद्रित ज्ञानार्णवमें या तो अशुद्ध प्रतीत होते हैं या उनसे कुछ विशेषता रखते हैं नीचे तालिका में दिये जाते हैं।

पृष्ठ	श्लोक स०	मुद्रित पाठ	लिखित प्रतिके पाठ
८	१६	योगिभिर्यत्	योगिभिर्या
९	२४	निरूप्य सत्त्व	निरूप्य स च
११	३०	पुसामपसपति	पुसा नापसर्पति
११	३२	सतामपि च	सतामप्यत्र
१२	३८	राक्षसाक्रान्त	राक्षसाक्रान्त
१३	३९	प्रशम गत	प्रशम गता
१५	४९	विमृश्योच्चै	विमृश्यैव
१६	२	स्व तत्त्वं	स्वतत्त्व
१९	१७	अवश्य यान्ति	अवश्य यदि
२४	२४	यद्धत्वा	ये धृत्वा

पृष्ठ	श्लोक सं०	मुद्रित पाठ	लिखित प्रतिके पाठ
२२	३५	यन्न ते सन्ति तद्गृहे	न ते सन्ति जगद्गृहे
२३	३६	सद्म	सद्मः
२५	४६	ये चात्र जगती-	ये ये त्रिजगती-

इसी प्रकार पूरे मुद्रित ज्ञानार्णवमें अशुद्धियां पाई जाती हैं। कहनेको तो इसका प्रकाशन एक साहित्यिक सस्थासे हो रहा है, पर अगली सब आवृत्तियाँ प्रथमावृत्तिकी नकल-मात्र हैं। योग के ऊपर एक तो जैन ऋषियों ने कुछ लिखा नहीं और लिखा भी है तो बहुत कम। दोनों सम्प्रदायोंमें इस विषय के मुश्किलसे दो तीन ग्रन्थ मिलते हैं। तिस पर दिगम्बर सम्प्रदायमें तो ज्ञानार्णव ही इस विषयका सब से पहला ग्रन्थ है। इसे सबमें अन्तिम भी कह सकते हैं; क्योंकि न तो इसके पहले लिखे गये इस विषयके किसी अन्य ग्रन्थकी ही उपलब्धि होती है और न इसके बाद ही किसी ने इस विषय पर लिखा है।

(२)

यह तो हुई मुद्रित ग्रन्थमें स्खलनकी बात। अब हमें यह देखना है कि इस हस्तलिखित प्रतिसे हमें क्या यह संकेत मिलता है कि ज्ञानार्णवमें जो 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत वाक्य पाये जाते हैं उनका संग्रह स्वयं ग्रन्थकार ने नहीं किया। आगे इसी का विचार करते हैं—

(१) मुद्रित ज्ञानार्णव के पृष्ठ ९५ पर एक श्लोक आया है जो निम्न है—

'एको द्विधा त्रिधा जीवः चतुःसंक्रान्तिपञ्चमः।
षट्कर्म (क्रमः) सप्तभङ्गोऽष्टाश्रयो (यो) नवदशस्थिति.' ॥ १८, ६।

इसका अनुवाद पं० जयचन्द्रजी ने निम्न प्रकार किया है—

'जीव सामान्य चैतन्यरूपसे एक प्रकार के हैं। त्रस, स्थावर भेदसे दो प्रकारके हैं; एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय भेदसे तीन प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी भेदसे चार प्रकारके है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भेदसे पांच प्रकारके हैं। पांच स्थावर और एक त्रस इस प्रकारके भेद करनेसे छह प्रकारके हैं। पांच स्थावर, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय ऐसे भेद करनेसे सात प्रकारके हैं। पांच स्थावर विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी ऐसे आठ प्रकारके है। पांच स्थावर तीन विकलेन्द्रिय एक सकलेन्द्रिय ऐसे नव प्रकार हैं और पांच स्थावर तीन विकलेन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी ऐसे भेद करनेसे दश प्रकार भी हैं।......'

उक्त श्लोकका यह अनुवाद पण्डितजीने अपनी बुद्धिसे किया है सो बात नही है, किन्तु उसका आधार मूल में विद्यमान है जो इस लिखित प्रतिमें भी पाया जाता है—यथा—

'चैतन्यरूपः १। त्रसस्थावर २। एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय ३। एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी ४। एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रियपर्यन्तम् ५। पंच स्थावर त्रसश्च ६।

पच स्थावर विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय ७। पच स्थावर विकलेन्द्रिय सज्ञी असज्ञी ८। मकरो-द्रिय विकलत्रय पच स्थावर ९। पच स्थावर विकलत्रय सज्ञी असज्ञी १०।'

ज्ञानार्णवका उक्त श्लोक 'एक्को चेव महप्पो' इत्यादि दो गाथाओंका सक्षिप्त रूप है। ये दोनों गाथाएं और उनका अर्थ धवला प्रथम पुस्तक पृष्ठ १०० पर देखिये। ज्ञानार्णवके कर्त्ताके सामने इस श्लोकको लिखते समय अवश्य ही उक्त दो गाथाएं रहीं हैं। यह बात उक्त श्लोकके 'चतु सक्रान्ति' 'पञ्चम ' व 'सप्तमगो' पदोंमें प्रकट हो जाती है। मालूम होता है कि उक्त श्लोक की परम्परासे अनभिज्ञ किसी टिप्पणकारकी यह करामात है। टिप्पणकारने उसे पहले हामिया में लिखा होगा। तदनन्तर वह लेखकोंकी कृपासे मूलका अग बन गया।

(२) मुद्रित प्रति के पृष्ठ १९४ पर मूलरूपमे 'या निशा सर्वभूतेषु' इत्यादि श्लोक छपा है जो गीता के दूसरे अध्यायका ६९ वा श्लोक है। मालूम होता है कि यह श्लोक ज्ञानार्णवके 'यस्या निशि जगत् सुप्त' इस श्लोकके अनुरूप होनेसे किसी टिप्पणकारने उसे हमियामे सगृहीत किया होगा और आगे जाकर वह मूलमे ही सम्मिलित हो गया। मुद्रित प्रतिमे 'यस्या निशि' और 'या निशा' ये दोनो श्लोक क्रमश ३६ और ३७ नम्बर पर दर्ज हैं। किन्तु इस हस्तलिखित प्रतिमें इनका नम्बर ३५ और ३७ है। अधिकतर यह क्रम भग ऐसे ही स्थलों पर होता है, जहा पर कोई नई चीज पीछे से जोडी जाती है। यदि लेखक समझदार हुआ तो वह यथास्थान उसे निबद्ध कर देता है। और यदि कोरा लेखक ही हुआ तो वह आगे पीछे भी उसे निबद्ध कर सकता है।

(३) 'समाकृष्य यदा' इत्यादि दो श्लोक जो मुद्रित ज्ञानार्णवके पृष्ठ १८६ पर 'उक्त च ग्रन्थान्तरे' रूपमें छपे हैं, वे इस लिखित प्रति के मूलमें नहीं हैं। किसी टिप्पणकारने उन्हें हामियामें लिखा है और अगले दो श्लोकोंके जो क्रम नम्बर दिये हैं वे इन पर डाल दिये हैं। किन्तु प्रारम्भमें 'उक्त च' नहीं लिखा है। इनके विषयमें एक बात और ध्यान देने योग्य है कि मुद्रित ज्ञानार्णवमें ये श्लोक नम्बर ९ के बाद निबद्ध हैं किन्तु इसमें इनका निर्देश नम्बर ३ के बाद किया है। मालूम होता है कि किसी टिप्पणकारने हामियामें ही इनका सकलन किया होगा और क्रमश ये ग्रन्थके अग बन गये।

ये दोनों श्लोक योगशास्त्रके हैं जिनसे वहाम अलग नहा किया जा सकता। किन्तु ज्ञानार्णवमें इनके पाये जानेमें यह अनुमान करना कि अन्य ग्रन्थकारने इनका सकलन किया होगा, गलत है, क्योंकि ज्ञानार्णवकार इनका तभी 'उक्त च' रूपमें सकलन कर सकते थे जब इनमें उनके बतलाये हुए अर्थ की पुष्टि होती। किन्तु यह बात नहीं है, यह बात ज्ञानार्णव

और योगशास्त्रमें बतलाये गये पूरकके लक्षणसे ही स्पष्ट हो जाती है। ज्ञानार्णवमें पूरकका लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है—

द्वादशान्तात् समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥२९.४॥

अर्थ—'द्वादशान्त कहिये तालुवेके छिद्रसे अथवा द्वादश अंगुल पर्यन्तसे खैंच कर पवनको अपनी इच्छानुसार अपने शरीरमे पूरण करै. उसको वायुविज्ञानी पंडितोंने पूरक पवन कहा है ॥' (पं० जयचन्द्रजी)

योगशास्त्रमे पूरकका लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है—

'समाकृष्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः।'

अर्थ—बाहरसे वायुको खींचकर अपान द्वारसे पेटमें भरनेका नाम पूरक है।

इस प्रकार ज्ञानार्णवसे योगशास्त्रके पूरकके लक्षणमे भेदके रहते हुए भी इनका संकलन ज्ञानार्णवमे किया गया; इसीसे मालूम होता है कि इनका संकलन किसी दूसरेने किया होगा।

दूसरे इन दो श्लोकोंमे ज्ञानार्णवसे योगशास्त्रमे जो पाठ भेद पाया जाता है वह बड़े महत्त्वका है। इससे तो योगशास्त्रके द्वारा माने गये पूरकके लक्षणमें ही अन्तर पड़ जाता है। योगशास्त्रके पूरकका लक्षण तो हम ऊपर बतला ही आये हैं। योगशास्त्रके श्लोकका वह पाठ परिवर्त्तित होकर ज्ञानार्णवमे इस प्रकार हो गया है—

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः।

क्या यह 'यदापानात् पूरणं' के स्थानमे 'यदा प्राणधारणं' संशोधन स्वयं ज्ञानार्णवकारने किया होगा? यदि नहीं तो फिर यह कहना कि इनका संग्रह स्वयं ज्ञानार्णवकारने किया होगा, किसी भी हालतमे संगत नहीं है। वास्तवमे इस संशोधनसे श्लोककी आत्मा ही नष्ट हो गई। मालूम तो यही होता है कि किसी टिप्पणकारकी ही यह करामात है। उसने सोचा होगा कि ज्ञानार्णवमे बतलाये हुए पूरकके पक्षमे यह श्लोक तो बैठता नहीं; अतः परिवर्तन कर देना चाहिये। और इस प्रकार उसकी अदूरदर्शिताने मूल श्लोकका यह रूप ला उपस्थित किया।

इस प्रकार ऊपर जो तीन प्रमाण उपस्थित किये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि ज्ञानार्णवमे 'उक्तं च' रूपसे पाये जाने वाले श्लोकों का संकलन स्वयं ज्ञानार्णवकारने नहीं किया होगा। किन्तु पहले उनका संकलन टिप्पणकारोंने हांसियामे टिप्पणरूपसे किया होगा और कालान्तरमे लेखकोंके प्रमादसे वे ग्रन्थके अंग बन गये। अतः ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' रूपसे पाये जाने- वाले श्लोकोंके आधारसे ग्रन्थकर्त्ताके समयका निर्णय करना युक्त नहीं है।

(३)

अब हम कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं जिनसे ऐतिहासिकोंको ग्रन्थकर्त्ताके समयके निर्णय करनेमें थोडी-बहुत सहायता मिल सकती है।

आचार्य शुभचन्द्रने ग्रन्थके प्रारम्भमें समन्तभद्र, देवनन्दि, भट्टाकलङ्क और जिनसेन इन चार आचार्योंकी स्तुति की है इससे स्पष्ट है, कि शुभचन्द्र इनके बादमें हुए होंगे, पर वे कब हुए इसीका निश्चय करना शेष है।

यह तो हम ऊपर ही बतला आये है कि ज्ञानार्णवमें जो 'उक्तं च' रूपसे श्लोक पाये जाते हैं उनके आधारसे शुभचन्द्रके समयका निर्णय करना ठीक नही है, अतः हम इस प्रक्रियाको छोडकर अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१) ज्ञानार्णवमें 'जिनसेनकी स्तुति करते हुए उनके वचनोंको त्रैविद्यवन्दित कहा गया है। त्रैविद्य एक उपाधि रही है जो सैद्धान्तिक या सिद्धान्तचक्रवर्तीके समान सिद्धान्त शास्त्रके ज्ञाताओंको मिलती रही है। इससे मालूम तो यही होता है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ता इसी परम्परामें हुए हैं। इस परम्परामें ऐसे अनेक शुभचन्द्र नामवाले विद्वान मिलते हैं। एक ये शुभचन्द्र हैं जिन्हें धवलाकी प्रति समर्पित की गई थी। इनका स्वर्गवास शक सम्वत् १०४५ मे हुआ था। एक शुभचन्द्र देवकीर्ति पण्डितदेवके शिष्य हो गये हैं। इनको त्रैविद्यदेवकी उपाधि भी थी। इनका काल शक बारहवीं शताब्दिका उत्तरार्ध समझा जाता है। एक शुभचन्द्रका उल्लेख श्रद्धेय प्रेमीजीने 'आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय' शीर्षक लेखमें किया है। ये तेरहवीं शताब्दिके मध्यमे हो गये हैं। इन्हें स्वयं ज्ञानार्णवकी प्रति समर्पितकी गई थी। खोज करने पर ऐसे शुभचन्द्र नाम वाले और भी अनेक आचार्य मिलेंगे। किन्तु इन सबमेंसे यह निश्चित करना कठिन है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ता कौन शुभचन्द्र हुए ?

ज्ञानार्णवके ३६ वें प्रकरणमें लोकका वर्णन आया है। उसमें बतलाया है कि यह लोक नीचेसे मध्य तक सात राजु और मध्यसे अग्र तक सात राजु ऊंचा है। तथा अधोलोकके पास सात राजु, मध्य लोकके पास एक राजु, ब्रह्मस्वर्गके पास पांच राजु और लोकाग्रमें एक राजु विस्तारवाला है। यथा—

अस्य प्रमाणमुन्नत्या सप्त सप्त च रज्जवः ।
सप्तैका पञ्च चैका च मूलमध्याग्रविस्तरे ॥९।३६॥

इसमें स्पष्टतः राजवार्तिककी मान्यताकी पुष्टिकी गई है। मालूम होता है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ता उस समय हुए हैं जब सिद्धान्त शास्त्रानुसार वीरसेन स्वामीके द्वारा पुनःस्थापित की गई लोककी मान्यताका अधिक प्रचार नहीं हुआ था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये जिनसेनसे कुछ ही काल बाद हुए होंगे।

(२) मुद्रित ज्ञानार्णवमे यशस्तिलकचम्पूके श्लोक उद्धृत हैं। यदि इन श्लोकोंको स्वयं शुभचन्द्रने उद्धृत किया होता तो वे चम्पूकार का स्मरण भी करते। क्या सबब है कि वे जिनसेन तकके आचार्योंका नामोल्लेख करके ही रह गये ?

मैंने गुणदोष विचार नामक उस प्रकरणको ध्यानसे देखा है जहां यशस्तिलक चम्पूके 'ज्ञानहीने' इत्यादि तीन श्लोक उद्धृत हैं। वास्तवमें 'वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्' इत्यादि २२ नम्बरके श्लोकसे ही प्रकरण स्खलित प्रतीत होता है। आप इस श्लोकके बादका सब प्रकरण अलग कर दीजिये और तदनन्तर 'यस्य प्रज्ञा' इत्यादि २९, वें नम्बरवाले श्लोकको पढ़िये आपको एकदम संगति प्रतीत होगी। मेरा तो ख्याल है कि २२ वें और २९ वें नम्बरके बीच मे जितने भी श्लोक हैं वे सब प्रक्षिप्त हैं। मेरी प्रार्थना है कि विद्वान् पाठक इस सूचनाका ठीक तरह उपयोग करें। यह सब तो रत्नत्रय नामक १८ वें प्रकरणमें लिखने लायक थी। यहां तो उसकी कोई आवश्यकता ही न थी। इससे प्रतीत होता है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ताके समक्ष यशस्तिलकचम्पू नहीं था और न उन्होंने स्वयं इसका उपयोग ही किया है।

(३) समन्तभद्र आदि आचार्योंकी स्तुति करनेके बाद ज्ञानार्णवकारने योगीन्द्रसेवित मार्गमे अपनी आत्माको लगानेकी सूचना की है। मालूम होता है यहां शुभचन्द्र आचार्यने 'योगीन्द्र' पदका श्लेषमे प्रयोग किया है जिससे परमात्मप्रकाशके कर्ता योगीन्द्रदेवका बोध होता है। बहुत सम्भव है कि शुभचन्द्र आचार्य योगीन्द्रदेवके समकालीन हों और ज्ञानार्णवके पहले परमात्म प्रकाशकी रचना हो चुकी हो. जिससे ज्ञानार्णवके बनानेमे प्रेरणा मिली हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो कहना होगा कि जिस समय परमात्मप्रकाशके कर्त्ता योगीन्द्रदेवने इस भूतलको अपने वास्तव्यसे सुशोभित किया है वही आचार्य शुभचन्द्रका काल होना चाहिये। उपर्युक्त प्रमाणोंको देखते हुए यह बहुत कुछ सम्भव भी है।

इस प्रकार ज्ञानार्णव और उसके कर्त्ताके सम्बन्धमे मुझे जो सामग्री उपलब्ध हुई वह मैंने प्रस्तुत की है, आशा है विद्वान् पाठक इसका समुचित उपयोग करेंगे।

क्या षट्खंडागम सूत्रकार और उनके टीकाकार वीरसेनाचार्य का अभिप्राय एक ही है ?

[लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी०]

दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य में पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों द्वारा विरचित षट्खंडागम सूत्र सब से प्राचीन, जैन सिद्धान्त का पूर्णतम विवेचन करने वाले एवं सर्वोपरि प्रमाणभूत ग्रंथ माने जाते हैं। इन सूत्रों की वीरसेनाचार्य द्वारा विरचित एकमात्र धवला टीका उपलब्ध है जिसके कारण यह ग्रंथरचना धवलसिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। यह सूत्र और टीकारूप रचना दिगम्बर सम्प्रदाय में पूज्य माने जाने पर भी कोई एक हजार वर्ष से लुप्तप्राय थी और इसकी एकमात्र ताड़पत्रीय प्रति कर्नाटक देश के मूडबिद्री नामक स्थान पर सुरक्षित बच रही थी। सौभाग्य से गत बीस वर्ष के भीतर इस रचना की प्रतिलिपियां जिज्ञासुओं को उपलब्ध हो गई और गत पांच छह वर्ष से इसका क्रमशः प्रकाशन भी हो रहा है। इन ग्रन्थों के अवलोकन से जैन सिद्धान्त के अन्तरंग की अनेक व्यवस्थाओं पर गहरा प्रकाश पड़ रहा है और अनेक विचारणीय बातें सम्मुख आ रही हैं। यहां हमें इनमें से एक ऐसी ही महत्वपूर्ण व्यवस्था पर गम्भीरता से विचार करना है।

षट्खंडागम के प्रथमखंड 'जीवट्ठाण' में सत्, संख्या, क्षेत्र आदि प्ररूपणाओं में गुणस्थान व मार्गणास्थानों के प्रतिपादन के लिये मनुष्यों के चार भेद किये हैं—मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्य। सत्प्ररूपणा के सूत्र ८९ से ९३ तक के पांच सूत्रों में इनके गुणस्थान बतलाये गये हैं। सूत्र ८९ में मनुष्यमात्र की पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्थाओं मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, और असंयत सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों का, एवं सूत्र ९० में उनकी पर्याप्त अवस्था में सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत आदि समस्त गुणस्थानों का प्रतिपादन किया गया है। सूत्र ९१ में ये ही चौदहों गुणस्थान पर्याप्त मनुष्यों में सम्भव बतलाये गये हैं। इसके आगे सूत्र ९२ और ९३ में मनुष्यनियों के गुणस्थान कहे गये हैं। जो इस प्रकार हैं —

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२॥

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे[1] णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

अर्थात्—मनुष्यनियों में मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान तो उनकी पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में संभव है, किन्तु शेष के समस्त गुणस्थान उनकी पर्याप्त अवस्था में ही हो सकते हैं।

यहां स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्यनी के चौदहों गुणस्थानों के प्रतिपादन से क्या सूत्रकार का अभिप्राय द्रव्य स्त्री की मुक्ति के पक्ष में है? यही प्रश्न धवलाकार वीरसेन स्वामी के सम्मुख उपस्थित हुआ है और उन्होंने अपनी टीका में इस प्रकार शंका-समाधान किया है—

१ शंका—इस आर्षवाक्यसे तो द्रव्यस्त्रियों के निर्वाण की सिद्धि होती है?

समाधान—नहीं होती, क्योंकि स्त्रियों के वस्त्र सहित रहने से उनके अप्रत्याख्यान अर्थात् संयमासंयम गुणस्थान होता है, एवं पूर्ण प्रत्याख्यान रूप संयम की उत्पत्ति नहीं होती।

२ शंका—वस्त्र सहित होते हुए भी उनके भाव संयम होने में क्या विरोध आता है?

समाधान—उनके भाव संयम भी नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्रादि का ग्रहण भाव असंयम के बिना हो ही नहीं सकता।

३ शंका—तब फिर उनमें चौदहो गुणस्थान किस प्रकार घटित होंगे?

समाधान—भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगति में चौदहों गुणस्थान मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

४ शंका—भाववेद तो बादरकषाय अर्थात् नौवे गुणस्थान के ऊपर होता ही नहीं है, अतएव भाववेद सहित चौदहों गुणस्थान कैसे संभव है?

समाधान—यहा वेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु गति ही प्रधान है; और गति कुछ बादरकषाय से आगे नष्ट नहीं होती।

५ शंका—इस प्रकार वेद विशेषण युक्त गति में तो चौदह गुणस्थान संभव नहीं हुए?

समाधान—न होने दो, किन्तु विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उसी संज्ञा को धारण करनेवाली मनुष्य गति में चौदहों गुणस्थान मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

१—यहां यद्यपि उपलब्ध प्रतियों में 'संजदासंजदट्ठाणे' ही पाठ है, उसके आगे 'संजद' इतना पाठ नहीं है, तथापि ग्रन्थ के सम्पादकों ने सूत्र की धवला टीका एवं अन्य प्ररूपणाओं पर से यह निश्चय किया है कि यहां 'संजद' इतना पाठ छूट गया है, वह होना अवश्य चाहिए।

इन शंका समाधानों की जड़ में निम्न मान्यताएं दिखाई देती हैं —

१ वस्त्र त्याग के बिना भावसंयम हो ही नहीं सकता। वस्त्रग्रहण का असंयम के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

२ स्त्रियां कभी वस्त्र का त्याग नहीं कर सकतीं, जिससे उनके न कभी द्रव्यसंयम हो सकता और न भावसंयम। अतएव वे पांचवें गुणस्थान से ऊपर जा ही नहीं सकतीं, और निर्वाण भी प्राप्त नहीं कर सकतीं।

३ किन्तु पुरुषों में स्त्रीवेद का उदय हो सकता है और वे चौदहों गुणस्थान प्राप्त कर के मोक्ष जा सकते हैं। ऐसे ही मनुष्यों को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने मनुष्यनियों में चौदहों गुणस्थानों का प्रतिपादन किया है।

४ यद्यपि चौदहों गुणस्थानों तक वेद की सत्ता नहीं रहती, तथापि पहले वेद के सद्भाव में जिन्हें मनुष्यनी कहा, उन्हें ही वेद के अभाव में उपचार से उसी नाम से सम्बोधित किया है। और यह इस कारण सम्भव है कि यहां वेद की प्रधानता न होकर गति की प्रधानता है।

ये मान्यताएं कहां तक सूत्रकार सम्मत हैं यह बात विचारणीय है। षट्खंडागम सूत्रों में जहां तक हम देख सके हैं, इन मान्यताओं का कोई उल्लेख या स्पष्ट आधार हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। प्रथम मान्यता के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्य दिगम्बरीय प्रामाणिक ग्रंथों में द्रव्यलिंगी और भावलिंगी श्रमणों की अलग अलग सत्ता स्वीकार की गई है। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने भाव पाहुड में ऐसे भाव श्रमणों का उल्लेख किया है। ऐसे ही एक शिवभूति भाव से विशुद्ध होकर केवलज्ञानी हुए (भा०पा०५३)। व शिवकुमार नामक भाव श्रमण संसार से पार उतर गये (भा०पा०५१)। शिवार्य ने अपनी भगवती आराधना में मुनियों के उत्सर्ग मार्ग के अतिरिक्त अपवाद मार्ग का भी विधान किया है जिसके अनुसार विशेष परिस्थिति में मुनि वस्त्र धारण भी कर सकता है। (भ० आ० गाथा ७९ आदि)। तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति ने जिन पुलाकादि पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उनमें उन्होंने लिंग भेद की अपेक्षा विचार करने का भी आदेश दिया है (त० सू० ९, ४६ ४७)। व सर्वार्थसिद्धिकार देवनन्दि पूज्यपाद ने अपनी टीका में कहा है कि "लिंग दो प्रकार का होता है—द्रव्य लिंग और भाव लिंग। भाव लिंग की अपेक्षा तो पांचों ही निर्ग्रन्थ लिंगी हैं, किन्तु द्रव्य लिंग की अपेक्षा उनमें विकल्प हैं।'[1] इस स्थल पर श्रुतसागर जैसे कट्टर दिगम्बरी टीकाकार ने भी लिखा है कि "कुछ महर्षि जो [illegible] हैं वे शीतकालादि में कम्बल, कौशेयादि ग्रहण कर लेते हैं। कुछ मुनि [illegible] दोषों से लज्जित हुए वस्त्र ग्रहण,

१ लिंग द्विविध—द्रव्यलिंग भावलिंग [illegible] ग प्रतीत्य पञ्च निर्ग्रन्था [illegible] भवन्ति। द्रव्यलिंग प्रतीत्य भाज्या (स०

कर लेते हैं ऐसा भगवती आराधना में उक्त अभिप्राय से अपवाद रूप जानना चाहिए।'[1] इस प्रकार के अनेक उल्लेखों के प्रकाश में धवलाकार का यह कथन कि वस्त्र ग्रहण भाव असंयम का अविनाभावी है कहां तक ठीक है, यह विचारणीय है।

२ यदि पुरुष वस्त्र धारण कर के भी भाव संयमी हो सकते हैं तो स्त्रियों के परिमित वस्त्र धारण करने पर भी संयम की उत्पत्ति में बाधा क्यों आना चाहिए? भगवती आराधना व मूलाचार में जिस प्रकार मुनियों का आचार बतलाया है उसी प्रकार आर्यिकाओं का भी। मूलाचार में मुनियों को विरत और आर्यिकाओं को विरती कहा है। मुनियों के हैं 'गणी' तो आर्यिकाओं के भी 'गणिनी' हैं। सामाचार अधिकार के अन्त में तो वट्टकेरिने यहा तक कहा है कि 'इस प्रकार चरित्र का जो भी साधु व आर्यिका पालन करतीं हैं वे जग में पूजा, कीर्ति और सुख पाकर सिद्ध होते हैं।'[2] वस्त्रमात्र के ग्रहण होने पर भी भाव संयम द्वारा मुक्ति प्राप्ति के उल्लेख हम ऊपर देख ही चुके हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी लिंग की अपेक्षा सिद्धों में विकल्प करने का आदेश किया है (त० सू० १०, ९)। और सर्वार्थसिद्धिकार ने उस स्थल पर स्पष्ट कहा है कि निर्ग्रन्थ व सग्रन्थ लिंग से सिद्धि होती है।[3] यहां श्रुतसागरजी ने इस प्रकार समाधान किया है कि "पूर्व में निर्ग्रन्थ था, पश्चात् किसी ने उपसर्ग से आभरणादिक पहना दिये, जैसे कि तीन पाण्डव आभरणों सहित मोक्ष गये। इस प्रकार पाण्डवादि के समान ग्रन्थता उपसर्ग के वश से समझना चाहिए।" किन्तु यह समाधान सन्तोषकारक नहीं है। जब भावश्रमण की द्रव्यलिंग के बिना मुक्ति मान ली गई, एवं पांचों निर्ग्रन्थों में भी द्रव्यलिंग की अपेक्षा विकल्प स्वीकार कर लिया गया, तब सग्रंथ लिंग से मुक्ति स्वीकार करने में उक्त कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती।

यथार्थतः यदि स्त्रियों में संयमासंयम से ऊपर का गुणस्थान सम्भव ही न माना जाय तो श्राविका संघ से आर्यिका संघ की पृथक् व्यवस्था बनती ही नहीं है। जिस प्रकार पांचवें गुणस्थान तक के पुरुष, चाहे वे क्षुल्लक-ऐलक ही क्यों न हो जांय, श्रावक ही माने जाते है, मुनि नहीं; उसी प्रकार उक्त गुणस्थान तक की स्त्रियों का समावेश श्राविका संघ में ही होगा। उससे ऊपर आर्यिका संघ की पृथक् व्यवस्था तभी स्वीकार की जा सकती है जब उनमें पाचवें से ऊपर के गुणस्थानों की उत्पत्ति मानी जाय।

१ द्रव्यलिंगं प्रतीत्येति तर्कि! - केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कंबलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति, केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषाल्लज्जितत्वात्तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवती-प्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यम् (स० सि० ९, ४७ पर श्रुतसागरी टीका)।

२ एवं विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लद्धूण सिज्झंति (मू० सा० अ० १९६)

३ निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया। (स०सि० १०, ९)। यहां भूतनय से अभिप्राय सिद्ध होने से पूर्व की अवस्था से है। सिद्ध अवस्था को प्रत्युत्पन्न नय से प्रकट किया है।

३ तीसरी मान्यता के सम्बन्ध में मुख्यतया दो आपत्तियां उत्पन्न होती हैं। एक तो यह कि पुरुषशरीरी जीव में स्त्री वेद का उदय व स्त्रीशरीरी जीव में पुरुषवेद का उदय सिद्धान्तानुसार घटित नहीं होता। चक्षु, कर्ण, श्रोत्र आदि उपांगों की उत्पत्ति का क्रम यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार जीव के ज्ञानावरण का क्षयोपशम होगा, उसी प्रकार अन्तराय का भी क्षयोपशम होगा और उसी अनुसार अंगोपांग नामकर्म द्वारा उपांगों की पुद्गल रचना होगी। ज्ञानावरणीय व वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से निरपेक्ष अंगोपांग नामकर्म किसी इन्द्रिय की पुद्गल रचना नहीं कर सकता। उसी प्रकार वेदनोकषाय की जिस प्रकृति का उदय होगा उसी के अनुरूप वीर्यान्तराय का क्षयोपशम व अंगोपांग नाम कर्म का उदय होगा। पुद्गल विपाकी नामकर्म में वेदोदय की सत्ता बिना पुरुष व स्त्री लिंगों की रचना की क्षमता नहीं है, क्योंकि ऐसी पृथक् प्रकृतियां अंगोपांग नामकर्म में है ही नहीं। यथार्थतः नामकर्म की कोई भी प्रकृतियां अपने कार्य में सर्वथा स्वतन्त्र व अन्य कर्म निरपेक्ष नहीं हैं। गति का उदय आयुकर्म के अनुसार ही होगा। जाति का उदय मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम का ही अनुगामी होगा। शरीर, बंधन संघातादि आयु अनुसार गति का ही अनुसरण करेंगे, इत्यादि। और जिस प्रकार इन्द्रियों के विषय प्रतिनियत हैं उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यवेद अपने अपने भाववेद से सम्बद्ध है। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से कर्ण इन्द्रिय उत्पन्न नहीं हो सकती और न कर्ण इन्द्रिय से रूप का ज्ञान हो सकता, उसी प्रकार न स्त्रीवेदोदय से पुरुष लिंग की उत्पत्ति हो सकती और न पुरुषलिंग से स्त्री वेद का अनुभव हो सकता। प्रत्येक वेद अपने अपने उपांग से बंधा हुआ है जिससे उस वेद के सद्भाव में उसी के अनुरूप उपांग में उत्तेजना उत्पन्न होती है। और चूंकि उपांग रचना एक जीवन भर में बदल नहीं सकती, इसीलिये एक पर्याय भर में एक ही वेदोदय संभव माना गया है।

दूसरी आपत्ति यह है कि यदि पुरुष शरीर में स्त्री वेद का एवं स्त्री शरीर में पुरुष वेद का सद्भाव स्वीकार ही किया गया और भाववेद मात्र की निम्नानुसार सूत्रकारकृत मनुष्य और मनुष्यनी विभाग माने गये, तो उससे यह व्यवस्था निकलेगी कि जिस प्रकार पुरुषशरीरी स्त्री वेदी जीव मनुष्यनियों में सम्मिलित किये गये, उसी प्रकार स्त्रीशरीरी पुरुषवेदी जीव पर्याप्त मनुष्यों में अन्तर्भूत होंगे और पर्याप्त मनुष्यों के लिये जो गुणस्थानादि व्यवस्थाएं बतलाई गई हैं, वे उन्हें लागू होंगी। इस प्रकार यह तीसरी मान्यता आगम परम्परानुसार चिन्तनीय है।

४ धवलाकार ने उक्त प्रकरण में जो चौथी और पांचवी शंकाओं का समाधान किया है उससे तो उनके समस्त प्रतिपादन की कचाई प्रकट हो जाती है। जिस वेद की अपेक्षा से मनुष्य-मनुष्यनी विभाग कल्पित किये उसकी सत्तामात्र के अभाव में भी उस विभाग के आधार से दशवें आदि गुणस्थानों का प्रतिपादन युक्ति संगत नहीं ठहरता।

यहां उपचार से मनुष्यनी संज्ञा मानना और विशेषण के छूट जाने पर भी भूतपूर्व न्याय से कथन किये जाना बतलाकर धवलाकार ने अपनी पूर्वोक्त मान्यताओं की भले ही कुछ रक्षा कर ली हो, किन्तु उन्होंने सूत्रकार की सारी व्यवस्था को बड़ी शिथिल और सदोष प्रमाणित कर दी। मुख्य कथन में जहां उपचार और भूतपूर्व न्यायादि से काम लेना पड़ा वहां सिद्धांत की जड़ कमजोर ही प्रकट होगी। यदि वेद की प्रधानता छोड़कर गति की ही प्रधानता से कथन करना था तो वेद के अनुसार यहां भेद ही क्यों किये? यथार्थतः प्रस्तुत प्रकरण में तो योग मार्गणा चल रही थी और काययोग के सिलसिले में इन विभागों के अनुसार कथन किया गया है। मनुष्य गति की प्रधानता से तो गति मार्गणा में ऊपर सूत्र २७ में गुणस्थान प्ररूपण किया जा चुका है। वेदमार्गणानुसार प्ररूपण आगे सूत्र १०१ आदि में किया गया है और वहां अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक ही वेदों के आधार से कथन है, उससे आगे के गुणस्थानों को अपगतवेद कहा है। धवलाकार का समाधान कितना असन्तोषजनक है यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मानलो कुछ विद्यार्थियों के उनकी योग्यतानुसार हमने दो विभाग किये एक वर्ग में नौ पुस्तकें सीखने की योग्यता स्वीकार की और दूसरे वर्ग में उससे आगे शेष पांच पुस्तकों की। किन्तु प्रथम वर्ग के पाठ्य क्रम में हमने चौदहों पुस्तकें रख दी और जब किसी ने पूछा कि क्या ये चौदहो पुस्तकें इस वर्ग से पठनीय हैं, तब कहा, नहीं, किन्तु इस वर्ग की योग्यता का ख्याल न कर के विद्यार्थी मात्र की योग्यता की दृष्टि से ये पाठ्य पुस्तकें रख दी गई हैं। पर यदि वह पूछे कि जब आप को विद्यार्थी मात्र का ख्याल था तो इसे प्रथम वर्ग का पाठ्यक्रम क्यों कहा तो इसका हमारे पास क्या उत्तर है?

इस प्रकार यथार्थतः यहां भाववेद की विवक्षा कोई सार्थकता नहीं रखती और न उसे छोड़कर गति की प्रधानता सिद्ध होती।

इन आपत्तियों के प्रकाश में टीकाकार का स्पष्टीकरण सूत्रकार के सैद्धान्तिक निरूपण के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। पर यदि हम यहा पर्याप्त मनुष्य से द्रव्य पुरुष और मनुष्यनी से द्रव्य स्त्री का अभिप्राय ग्रहण करें तो उक्त कोई दोष यहा उत्पन्न नहीं होते। अतएव पाठक इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर सूत्रकार के निरूपण एवं कर्म सिद्धान्त के वास्तविक तत्त्वों के अनुसार विचार करने की कृपा करें।

जिनकल्प और स्थविरकल्प पर श्वे० साधु श्रीकल्याणविजयजी

(ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस०)

(क्रमागत)

अस्तुत श्वेताम्बर सम्प्रदायके जन्म समय और उसके बाद भी दिगम्बर सम्प्रदाय अपने प्राचीन नाम 'निर्ग्रन्थ' से ही उल्लेखित किया जाता रहा। मथुरा ककालीटीला के शिला लेखों में निर्ग्रन्थ आर्हतो (जैनों) का उल्लेख मिलता है। उधर अहिच्छत्र के स्तम्भलेख में इन्द्रनन्दि आचार्य और पहाड़पुर के ताम्रपत्र सन् ४७३ ई०) में निर्ग्रन्थ संघके आचार्य गुहनन्दि का उल्लेख है। 'नन्दि' अन्त नामवाले आचार्य प्राय नन्दिसंघ में हुये हैं। नन्दिसंघ की पट्टावली में नं० १७ पर गुणनन्दि आचार्य का समय सं० ३५८ लिखा है।[1] यह समय आचार्य गुहनन्दि के समय के लगभग पहुंचता है। गुहनन्दि गुणनन्दि का विकृत पाठ हो सकता है। उस समय बंगाल में दिगम्बरों का बाहुल्य था, यह बात फाह्यान और हुएनसांग के यात्रा विवरण से स्पष्ट है। अतएव यह आचार्य मूलसंघ—निर्ग्रन्थ संघ के प्रतीत होते हैं। ई० पांचवीं शतीका एक ताम्रपत्र कादम्बवंश के राजा श्रीविजय शिवमृगेश वर्मा का मिला है। उसमें लिखा है कि उक्त कदम्ब नरेश ने कालवङ्गनामक ग्राम का एक भाग अर्हत् भगवान के लिये, दूसरा भाग श्वेतपट (श्वेताम्बर) महाश्रमण संघ के लिये और तीसरा भाग निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ' के उपभोग के लिये दान किया था।[2] यहां निर्ग्रन्थ नाम से स्पष्टतः दिगम्बर जैन संघ अभिप्रेत है, क्योंकि इसमें श्वेताम्बर संघ का उल्लेख 'श्वेतपट' नाम से पृथक् हुआ ही है और उधर तामिल साहित्य के प्राचीन महाकाव्यों से प्रमाणित है कि कर्णाटक आदि दक्षिण भारत के देशों में भी दिगम्बर जैन मुनिगण निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध थे। अतः यह साक्षिता प्राचीन निर्ग्रन्थ परम्परा को ही दिगम्बर प्रमाणित करती है—इसीलिये दिगम्बर जैनों ने अपने संघ को ठीक ही 'मूल संघ' कहा है। अतएव श्रीकल्याणविजयजी की मान्यता तथ्यहीन ठहरती है।

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० १ कि० ४ पृ० ७८

२ "कदम्बानां श्रीविजयशिवमृगेशवर्म्मा कालवङ्गग्रामं त्रिधा विभज्य दत्तवान् अत्र पूर्व्वमर्हच्छाला परमपुष्कलस्थाननिवासिभ्य भगवदर्हन्महाजिनेन्द्रदेवताभ्य एको भागः द्वितीयोऽर्हत्प्रोक्तसद्धर्म्मकरण परस्य श्वेतपटमहाश्रमणसंघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघोपभोगायेति—"

—जैनहितैषी, भा० १४ पृ० २२१

हाँ, यह बात अवश्य है कि मूल निर्ग्रन्थ (जैन) संघ के अनुयायियों का उल्लेख जब प्राचीन संस्कृत साहित्यकारों ने किया तो उन्होंने उनको 'विवसन'-'दिग्वास'-'दिगम्बर' नाम से सम्बोधा। हम देख चुके हैं कि 'ऋक्संहिता' (१०, १३६-२) में वातवसन मुनियों का उल्लेख है, जो प्रो० वेबर के मतानुसार दि० जैन मुनियों का द्योतक है।[१] 'विष्णुपुराण' मे जैन मुनि 'दिगम्बरो मुंडो बर्हिपत्रधरो द्विजः' और जैनधर्म 'दिग्वाससामयं धर्मो' कहा गया है।[२] यह उल्लेख प्रो० जैकोबी के मतानुसार लगभग चौथी या पांचवी शताब्दियों के हैं।[३] हिन्दू 'पद्मपुराण' में भी जैनमुनि को 'योगी दिगम्बरो' लिखा गया है।[४] 'पञ्च-तंत्र' (५) में वही 'एकाकी गृहसंत्यक्त. पाणिपात्रो दिगम्बरः' लिखा गया है। महाकवि दण्डिन् और आचार्य शङ्कर ने भी उनको विवसन—दिगम्बर बताया है।[५] जहां भी वह जैन उल्लेख करते हैं वहां दिगम्बर जैन मत का नाम लेते हैं। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईस्वी प्रारंभिक शताब्दियों से जब संस्कृत भाषा का प्राबल्य हो चला और वैदिकधर्म की उन्नति होने लगी तो निग्रन्थ (जैनी) अपने साधुओं के नग्नभेष के कारण दिगम्बर-दिग्वास नाम से प्रसिद्ध हो गये। यही एक कारण है कि उनका प्राचीन 'निर्ग्रन्थ' नाम धीरे धीरे विलुप्त हो गया और वह केवल ग्रंथों में लिखने की वस्तु रह गया। दक्षिण भारत में जहां दिगम्बर जैनों का प्राबल्य उपरान्त काल तक रहा, वहां दिगम्बर जैनों का सम्बोधन उनके प्राचीन नाम 'निग्रन्थ श्रमण' से ही होता रहा। उदाहरण-रूप में शैवों के 'तेवारम्' नामक ग्रंथ के उद्धरण उपस्थित किये जा सकते हैं। वैष्णव अल्वर टोंडरदिपोडि के पद्य भी इसी बात के समर्थक हैं।[६] अत यह माना जा सकता है कि ई० ४ थी-५वीं शती से निर्ग्रन्थ जैनी नग्नता के कारण दिगम्बर नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। इसके पहले वे निर्ग्रन्थ कहलाते थे।

इस विषय में आगे कुछ लिखने के पहले श्रीकल्याणविजयजी के इस मत का खण्डन कर देना भी आवश्यक है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य छठी शताब्दि के विद्वान् थे। उन्होंने लिखा है 'छठी सदी के विद्वान् कुन्दकुन्द देवनन्दि वगैरह ने प्राचीन परम्परा से मजबूत मोरचा लिया। पहले जो सूत्र, निर्युक्ति आदि प्राचीन आगमों को इनके पूर्वाचार्य मानते आये

---

१ इण्डियन ऐन्टीक्वेरी भा० ३० पृ० २८०

२ विष्णुपुराण, ४/२ और ४/१०

३ *Jacobi*. "......the passage in question is later than the fourth century A D .. "—The VIRA, II 317

४ पद्मपुराण प्रथम सृष्टि खंड १३ पृ० ३३

५ वीर, वर्ष २ पृ० ३१७—३१८

६ अय्यङ्गर, स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनीज्म, भा० १ पृ० ६८—७१

थे। इन्होंने उनका मानना भी अस्वीकार कर दिया और अपने लिये आचार, विचार और दर्शन-विषयक स्वतंत्र साहित्य की रचना की, जिसमें वस्त्रपात्र रखने का एकान्त रूप से निषेध किया।' (पृ० ३०३—४) यह लेख कितना छल से भरा हुआ भ्रामक है, इसे पाठक जरा देखें। जबकि स्पष्ट रूप में श्रीकुन्दकुन्द स्वामी की पूर्वपरम्परा श्वेताम्बरीय परम्परा से भिन्न निर्दिष्ट है, तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि श्रीकुन्दकुन्द के पूर्वाचार्य वे श्वेताम्बर थे जो वस्त्रपात्र का विधान करते थे। दिगम्बर परम्परा के किसी भी आचार्य ने उनका विधान नहीं किया है? श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने स्पष्टरूप से कहा है कि वह अपने पूर्वाचार्यों के मतानुसार धर्म का निरूपण कर रहे हैं,[1] बल्कि उन्होंने उस समय जो आगम ग्रंथ उपलब्ध थे उन पर टीका भी रची थी। ऐसी सूरत में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य को पूर्व-परम्परा का विरोधी कहना अनर्गल प्रलाप है।

अब पाठक, जरा यह देखिये कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य क्या छठी सदी के विद्वान् थे? श्रीकल्याणविजयजी ने अपने मनोनीत मत की पुष्टि प्रो० पाठक की उन लचर युक्तियों से करना चाही है जिनका निरसन प्रो० चक्रवर्ती और डा० उपाध्ये ने कर दिया है।[2] आप पहले ही इस बात पर जोर देते हैं कि कुन्दकुन्दाचार्य ने 'पञ्चास्तिकायसार' की रचना शिवकुमार के लिये की थी, जो प्रो० पाठक के मतानुसार विक्रमी छठी सदी के कदम्बवंशी शिवमृगेश नरेश हैं। किन्तु स्वयं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने यह कहीं नहीं लिखा है कि उन्होंने शिवकुमार महाराज के लिये कोई ग्रंथ रचा था।[3] हाँ, टीकाकार जयसेनाचार्य यह बात अवश्य कहते हैं और उस पर से प्रो० चक्रवर्ती ने यह प्रमाणित किया है कि शिवकुमार नरेश पल्लव वंश के शिवस्कन्द महाराज हो सकते हैं जिनका समय ईस्वी पहली शताब्दि व्यक्त किया गया है। उनका यह समीकरण प्रो० पाठक से कहीं अधिक प्रामाणिक है और विद्वानों को मान्य है। अतः इस आधार से श्रीकुन्दकुन्द का समय ईस्वी प्रथम शताब्दि ठहरता है।

---

१ 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारस अंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥ —बोधपाहुड

२ प्रो० चक्रवर्ती की पञ्चास्तिकायसार की भूमिका व प्रो० उपाध्ये की प्रवचनसार की भूमिका देखो।

३ पञ्चास्तिकायसार को श्री कुंदकुंद ने प्रवचनभक्ति से प्रेरित होकर मार्ग प्रभावना के लिये रचा था; यथा —

"मार्गप्रभावनार्थं प्रवचनभक्तिप्रचोदितेन मया।
भणितं प्रवचनसारं पञ्चास्तिकसंग्रहं सूत्रं ॥१७३॥"

दूसरा प्रमाण श्रीकल्याणविजयजी ने पं० नाथूरामजी प्रेमी के आधार से उपस्थित किया है कि श्रीकुन्दकुन्द ने 'लोकविभाग' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है जिसे सर्वनन्दि आचार्य ने संभवतः वि० सं० ५१२ में रचा था; परंतु प्रेमीजी के इस मत का खंडन पं० युगलकिशोरजी मुख्तार ने कर दिया है। वस्तुतः 'लोयविभागेसु' बहुवचन पद का प्रयोग लोकानुयोग-विषयक ग्रंथों के लिये किया गया है।[1] अतः इससे भी कुन्दकुन्द छठी सदी के विद्वान नहीं ठहरते।

आगे श्रीकल्याणविजयजी ने श्रीकुन्दकुन्दाचार्यजी के ग्रंथों में विष्णु आदि शब्दों को पाकर उन्हें छठी सदी का विद्वान बताया है; परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध नहीं है कि विष्णु-उपासना इसके पहले भारत में थी ही नहीं। ऐसे ही उनकी अन्य बातें भी अनिश्चित हैं जिनसे कोई निर्णय, काल-सम्बन्धी नहीं किया जा सकता!

उस पर कुन्दकुन्दाचार्यजी को विक्रमीय तीसरी या छठी शताब्दि का विद्वान् मानने से ऐतिहासिक परम्परा ही नष्ट हुई जाती है। इस विषय में मुख्तार जी का यह लिखना ठीक है कि "इस मत को मान लेने से समन्तभद्र तो समन्तभद्र पूज्यपाद भी कुन्दकुन्द से पहले के विद्वान् ठहरते हैं; और तब कुन्दकुन्द के वंश में उमास्वाति हुये, उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की, उस तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की टीका लिखी; इत्यादि कथनों का कुछ भी अर्थ या मूल्य नहीं रहता और पचासों शिलालेखों तथा ग्रन्थादिकों में पूज्यपाद तथा उनसे पहले होनेवाले कितने ही विद्वानों के विषय में जो यह सुनिश्चित उल्लेख मिलता है कि वे कुंदकुंद के वंश में अथवा उनके बाद हुये हैं मिथ्या और व्यर्थ ठहरता है, यह सब क्या कुछ कम हानि है?[2]" इसलिये ही पूर्व परम्परानुसार श्रीकुंदकुंदजी को ईस्वी प्रथम शताब्दि का विद्वान् मानना उचित है।

शिलालेखीय साक्षिता भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य को प्रथम शताब्दि का विद्वान् प्रमाणित करती है। मर्करा के शक सं० ३८८ के ताम्रपत्र[3] में श्रीकुंदकुंदान्वय का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है :—

"........श्रीमान् कोंगणि-महाधिराज अविनीत नामधेयदत्तस्य देसियगगणं कौण्ड कुन्दान्वय-गुणचंद्रभटार-शिष्यस्य अभयणंदिभटार तस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटार-शिष्यस्य

१ जैनजगत वर्ष ८ अंक ६ जब मरकरा के लेख में जो शाके ३८८ का है, कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है, तब वह उपरान्त काल के कैसे हो सकते है?

२ रत्नकरण्डक श्रावकाचार (मा० ग्रन्थ)—जीवनी पृ० १६६

३ कुर्ग इन्स्क्रिपशन्स (E C I) श्रीयुगलकिशोर जी मुख्तार ने उसे उद्धृत किया है। वहां से ही हम इसका उपयोग सधन्यवाद कर रहे है।

जनाणदिभटार शिष्यस्य गुणणंदि भटार—शिष्यस्य वन्दणन्दिभटारर्गे अष्टअशीतित्रयो शतस्य सम्वत्सरस्य माघमास

इस उल्लेखमें स्पष्ट है कि शाके ३८८ में कुन्दकुन्दाचार्यजी की शिष्य परंपरा में छ: आचार्य हो चुके थे, जिनके होने के लिये यदि लगभग दो सौ वर्ष लिये जावें, तो श्रीकुन्दकुन्दजी का समय शाके १८८ के लगभग पहुंचता है। किन्तु इसमें यह स्पष्ट नहीं है कि इन छ: आचार्यों के पहले और कितने आचार्य भगवद् कुन्दकुन्द के बाद और हो चुके थे। अत: पट्टावली में दिये गये श्रीकुन्दकुन्द के समय को मानने में शङ्का के लिये स्थान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अन्य लेखों से यह स्पष्ट है कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यजी से बाद के आचार्यों में श्रीसमन्तभद्र स्वामी और गंगराज्य संस्थापक आचार्य सिंहनन्दी भी हुए हैं।[1] यह सिंहनन्दी जी गंगवंश के प्रथम राजा 'कोंगणिवर्मा' के समकालीन थे। कोंगणिवर्मा का एक शिलालेख नंजनगूड़ ताल्लुके में उपलब्ध हुआ है जिससे प्रकट है कि कोंगुणिवर्मा वि० सं० १६०, (ई० सन् १०३) में राज्यासन पर आरूढ़ थे। अत: श्री सिंहनन्दी जी का समय भी यही होना चाहिये और श्रीसमन्तभद्र जी इस समय से पहले के आचार्य होना चाहिये।[2] इस अवस्था में कुन्दकुन्द का उनसे भी पहले विद्यमान होना समुचित है। अत: श्रीकुन्दकुन्दाचार्य को पहली शताब्दि का विद्वान् मानना उचित ही ठहरता है। श्रीकल्याणविजय का उन्हें छठी शती का विद्वान लिखना कोरी कल्पना है।)

आखिर श्रीकल्याणविजयजी ने आचार्य कुन्दकुन्द जी को छठी शताब्दि का विद्वान क्यों बताया? इसका कारण स्पष्ट है। उन्होंने अपनी मनगढन्त परम्परा को पुष्ट करने के लिये कि पहले जैनसंघ में वस्त्रधारी साधुओं का ही बाहुल्य था, श्रीकुन्दकुन्द को जिन्होंने निर्ग्रन्थ लिङ्ग दिगम्बर ही प्रतिपादा है, छठी शती में ला रखने का असफल उद्योग किया है। किन्तु वह भूलते हैं कि श्रीकुन्दकुन्द ने जो लिखा वह पूर्वपरम्परानुसार ही लिखा और उनसे पहले के निर्ग्रन्थ (जैन) साहित्य में भी जिनमुद्रा और जिनलिङ्ग नग्नभेष रूप ही निरूपित हुआ है। 'भगवती आराधना' में भी साधु का वेष नग्न लिखा गया है और जैनमुनि पाणिपात्रभोजी बताये हैं। सर्व वस्त्रादिक का त्याग ही आचेलक्य है।[3] निर्ग्रन्थ लिङ्ग के चार चिन्हों में यही पहला है और यही औत्सर्गिक लिङ्ग है।[4] वह महानुभाव जो यह जान

---

1 मुख्तार सा० ने श्री समन्तभद्र स्वामी की जीवनी में यही निर्देश किया है। पृ० १६२-१६३

2 स्वामी समन्तभद्र पृ० १६६

3 'चेलादिसव्वसंगचाओ' आचेलक्क। (पृ० ३१२)

4 'आचेलक्कं लोचो वोसट्ट सरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंग कप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥८२॥'

शुद्धात्मानुभवी महामुनियों में विनय प्रवृत्ति—रूप द्रव्य, मन परिग्रह और सिद्धान्तों के पठन रूप वचन परिग्रह इनके अतिरिक्त और किसी परिग्रह का विधान मुनि के अपवाद लिङ्ग में नही है। रोगी या वृद्ध मुनि के अपवाद लिङ्ग में भी इन परिग्रहों मे अधिक और कोई परिग्रह नहीं होता और इनको परिग्रह कहना उपचारमात्र है। इसीलिये उत्सर्ग लिङ्ग और अपवाद लिङ्ग में वैषम्य के स्थान पर मैत्री ही प्रतिपादी गई है: यथा:—

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥३।

भावार्थ—बालक, वृद्ध, तपस्या से खिन्न, रोग से पीड़ित—ऐसे मुनि जिस तरह से मूल संयम का घात नहीं हो उस तरह से अपनी शक्ति के अनुसार आचरण करे! अतः यह स्पष्ट है कि मुनि के अपवाद लिङ्ग में भी उसे अपने मूल गुणों को ठीक से पालना पड़ता है—'भगवती आराधना' मे भी जहां क्षपक के संन्यास धारण का वर्णन है वहां यह नहीं लिखा है कि वह वस्त्र धारण कर ले! बल्कि उसके मूलगुणों की स्थिरता के लिये अन्य मुनिजन ऐसे साधन जुटाते हैं जिनसे वह मोक्षमार्ग में दृढ़ रहे। ऐसा करने में उन्हें जो दोष लगता है उसका वह प्रायश्चित्त लेते हैं। अतः निर्ग्रन्थ परम्परा में वस्त्रयुक्त दशा साक्षात मोक्षमार्ग कभी नहीं कही गयी है। श्रीकल्याणविजय जी पूर्वापर सम्बन्ध मिलाये बिना ही अनर्गल प्रलाप करते हैं। —क्रमशः

दिगम्बर जैन व्रत-कथायें†

(ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर)

प्रत्येक धर्म में कुछ विशेषताओं को लेकर कई तिथियाँ पर्व* त्योहार के रूप में मानी जाती हैं और उस दिन उस धर्म के सिद्धान्तानुसार धार्मिक आचरण-व्रतादि पालन किये जाते हैं। इनमें से कई पर्वों को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हो जाने के कारण दूसरे धर्मवाले भी अपना लेते हैं और उसके लिये स्वमतानुसार कोई कथा गढ़ ली जाती है। इन पर्व तिथियों की ओर जनता का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करने के लिये उनके आराधना से विशेष फल प्राप्ति होने के दृष्टांत में कथाओं का साहित्य निर्माण होता है और उन्हीं का नाम "व्रत कथा" साहित्य है। जैन साहित्य में भी इस प्रकार की व्रत कथायें प्रचुर रूप में पाई जाती हैं पर अभी तक उनका भली भाँति अनुसंधान नहीं होने से बहुत सा साहित्य अंधकार में पड़ा है, प्रस्तुत लेख विद्वानों का इस ओर ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से ही लिखा जा रहा है।

जैन धर्म प्रधानतः दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त है, इन दोनों का पृथग् पृथग् बहुत बड़ा साहित्य है जिनमें बहुत कुछ समानता होते हुए भी एक दूसरे से कतिपय विशेषताएँ एवं मौलिकताएँ भी हैं, पर हमारे विद्वानों का तुलनात्मक अध्ययन की ओर लक्ष्य कम होने कारण उन पर यथोचित प्रकाश नहीं डाला गया। हमलोग एक दूसरे को सर्वथा भिन्न से मान बैठे हैं इसीलिये एक सम्प्रदायवाले को दूसरे सम्प्रदाय के साहित्य का ज्ञान बहुत सीमित है। यद्यपि मेरा दिगम्बर साहित्य का अध्ययन हमारी ओर उस साहित्यिक कमी के कारण, परिमित नहीं है फिर भी मेरी सदा से यह इच्छा रहती आई है कि जो कुछ लिखा जाय दोनों को लक्ष्य में रख कर लिखा जाय। इसके प्रमाण स्वरूप मेरे अनेक लेख भास्कर एवं अनेकान्तादि में प्रकाशित हो हैं।

मेरे नम्र मतानुसार हमारे विद्वानों का परमावश्यक कर्तव्य है कि उभय सम्प्रदाय के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन कर किन किन सिद्धान्तों एवं बातों में दोनों की समानता है, किस विषय में किसकी कितनी विशेषता एवं न्यूनता है इसकी भली भाँति आलोचना की जाय। तभी हमारा पारस्परिक सहयोग एवं सद्भाव स्थायी एवं दृढ़तर होगा। और

---

†वैंकटेश्वर प्रेस से ८ व्रतकथाओं का संग्रह एवं दीपचन्द वर्णी लिखित ३१ व्रतकथाओं का एक संग्रह प्रकाशित है। कई फुटकर कथायें भी प्रकाशित हैं।

*प्राचीन जैनागमों, बौद्ध वैदिक ग्रन्थों से पता चलता है कि अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावास्या के दिन ही प्राचीनकाल में विशेष आराधना माने जाते थे। इसके पश्चात् जैनों में तीर्थंकरों के कल्याणक एवं पंचमी आराधन का प्रचार बढ़ा।

हमारे विचारों में संकीर्णता का ह्रास होकर धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता पनपेगी। इस लेख में जैन व्रत-कथाओं के सम्बन्ध में श्वेताम्बर साहित्य का थोड़ा सा परिचय देकर यथाज्ञात दिगम्बर साहित्य का परिचय दिया जाकर बीकानेर श्वेताम्बर ग्रन्थ भंडार से प्राप्त २१ दिगम्बर व्रत-कथाओं का परिचय दिया जा रहा है। आशा है अन्य विद्वान् इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने एवं आलोचना प्रकाशित करने की कृपा कर हमारी जानकारी की अभिवृद्धि करेंगे।

व्रत-कथा सम्बन्धी श्वेताम्बर साहित्य

श्वेताम्बर पर्व-कथा-साहित्य में महेश्वरसूरि रचित पंचमी माहात्म्य सब से प्राचीन है जिसका समय ११-१२वीं शताब्दी है। उसके पश्चात् मौलिक रचनायें १४ वीं, १५वीं शताब्दी से प्रारम्भ होती है, जिनमें खरतर जिनप्रभसूरिजी रचित "दीवालीकप्पो" सं० १३८७, भा० सु० सं० १३२५ में विनयचंद्रसूरिकृत दीपालिका† कल्प, १५वीं शताब्दी में—सं० १४८३ में जिन-सुन्दर-सूरि कृत दीपालिकाकल्प, सं० १४८५ में पुण्यराजकृत रजपर्व-प्रबन्ध* एवं सं० १४७८ में खरतर जयसागरोपाध्याय रचित पर्वरत्नावली (श्लोक ६२१), १६ वीं शताब्दी में—सौभाग्यनंदिसूरिकृत मौनएकादशी कथा, सं० १५७६ हम्मीरपुर, १७वीं शताब्दी—में सं० १६५५ में कनक कुशल रचित सौभाग्यपंचमीकथा, सं० १६५७ उन्नत-नगर में रविसागर रचित मौन एकादशीकथा, सं० १६९९ में दानचन्दकृत ज्ञानपंचमीकथा, १८वीं शताब्दी में—सं० १७०८ में दानचंदकृत मौन एकादशीकथा, मेघविजयकृत ज्ञानपंचमी कथा, १९वीं शताब्दी में—खरतर क्षमाकल्याणोपाध्याय ने सं० १८६० के लगभग चातुर्मासिक व्याख्यान, १८३५ में अष्टान्हिका व्याख्यान, अक्षय तृतीया, मेरुतेरस, होलिका आदि व्याख्यान एवं उमेदचंद्रकृत दीपावली व्याख्यान, सं १८९६ अजीमगंज, जीवराजजी रचित चैत्रपूनम व्याख्यान, सं० १८६० के लगभग आदि रचे गये हैं इन पर से भाषा में ज्ञान पंचमी आदि कथाओं पर चौपई, स्तवनादि अनेक कृतियाँ निर्मित की गई हैं। १२ व्रत, पूजाफल, रात्रिभोजनादि पर भी अनेक कथायें उपलब्ध हैं। २०वीं शताब्दी में राजेन्द्रसूरिजी ने दीपालिकासार एवं द्वादश पर्वों के श्रीजिनकृपाचंद्रसूरि, वीरपुत्र आनंदसागरजी के हिन्दी अनुवाद एवं फुटकर कई पर्व कथाओं के अनुवाद इंदौर आदि से प्रकाशित हुए हैं।

दि० व्रत कथाओं में भी धनपाल रचित भविष्यदत्त-कहा प्राचीन प्रतीत होती है इसका समय ११वीं शताब्दीके लगभग है। इसके पश्चात् अनेकों व्रतकथाओंका निर्माण हुआ, पर बहुतों का समय निश्चित ज्ञात न होने से संक्षिप्त सूची मात्र दे के संतोष मानना पड़ता है।

---

†भगवान महावीर का निर्वाण दिन—यह पर्व अब सब हिन्दू समानभाव से मानते हैं पर मूल में यह जैनों का प्रतीत होता है।

*होली का त्यौहार मूलतः सनातनियों का प्रतीत होता है, पीछे से जैनों ने अपनाया है, पर शुद्ध रूप में।

दि० संस्कृत व्रत-कथायें

१ व्रतकथाकोष—अमृत पंडित, दामोदर, देवेन्द्रकीर्ति, नरेन्द्रसेन, यशोनंदि श्रुतसागर, ललितकीर्ति।

२ षोडशकारण—केशवसेन, ज्ञानसागर, शुभचन्द्र, सकलकीर्ति, सुमतिसागर।

३ रोहिणी—केशवसेन, प्रभाचन्द्र, भुवनकीर्ति, सुरेन्द्रभूषण।

४ मुक्तावलि—खुशाल, रत्नकीर्ति।

५ कांजीद्वादशी—खुशाल।

६ सुगंधदशमी—गंगदास, पद्मनन्दि।

७ पुष्पांजलि—गंगदास, छत्रसेन, देवेन्द्रकीर्ति।

८ त्रैकालिक चतुर्विंशति—गुणनन्दि, विद्याभूषण।

९ ऋषिमंडल विधान—गुणनन्दि।

१० रोटतीज—गुणनन्दि।

११ अनंतव्रत—गुणचन्द्र, गुणभद्र, जिनदास ताराचंद, धर्मचन्द्र, पद्मनंदि, रत्नचन्द्र।

१२ दशमीव्रत—जगतकीर्ति।

१३ होली—जिनदास, वादिचन्द्रसूरि।

१४ रात्रि भोजन—जिनदास, दशरथ।

१५ चतुर्विंशति - जिनदास रचित चतुस्त्रिंशदुत्तर द्वादशशतोद्यापन भी है।

१६ दशलक्षण—ज्ञानभूषण, धर्मचन्द्र, रत्नकीर्ति, विश्वभूषण।

१७ चन्दनषष्ठि—देवसेन, श्रुतसागर, सोमकीर्ति।

१८ रविव्रत—देवेन्द्रकीर्ति, श्रुतसागर।

१९ पुष्पाष्टमी—देवेन्द्रकीर्ति।

२० नन्दीश्वर—देवेन्द्रकीर्ति, श्रुतसागर।

२१ केवलचान्द्रायण—देवेन्द्रकीर्ति।

२२ पल्यव्रत—देवेन्द्रकीर्ति।

२३ कल्याण मंदिर—देवेन्द्रकीर्ति, सुरेन्द्रभूषण।

२४ विषापहार—देवेन्द्रकीर्ति।

२५ रैवव्रत—देवेन्द्रकीर्ति।

२६ त्रिपंचाशत्क्रिया—देवेन्द्रकीर्ति।

२७ अष्टान्हिका—धर्मकीर्ति श्रुतसागर।

२८ रत्नत्रय—धर्मभूषण पद्मनन्दि।

२९ श्रुतस्कंध—नक्षत्रदेव, श्रुत पंचमी—श्रीधरसेन, सोमसेन, रामदेव।
३० मावमालिनी—प्रभाचंद्र।
३१ रत्नावधन सकलकीर्त्ति।
३२ लब्धिविधान—विद्याधर, सकलकीर्त्ति।
३३ भक्तामर—सोमसेन, सुरेन्द्रभूषण।
३४ आकाश पंचमी—श्रुतसागर।
३५ कलिकुण्ड पार्श्वविधान—पद्मनन्दि।
३६ ज्वालामालिनी—लक्ष्मीसेन।
३७ कर्मचूर—लक्ष्मीसेन।
३८ जिनगुणसम्पत्त—विद्याभूषण, सुमतिसागर।
३९ द्वादशव्रत—शांतिदास, श्रीभूषण।
४० सुखसंपतिव्रत—सुरेन्द्रभूषण।
४१ श्रेयस्करणी—सुरेन्द्रभूषण।
४२ पुरन्दर—श्रुतसागर।

हिन्दी दि० व्रत-कथा सूची

१ रत्नत्रय—ब्रह्म ज्ञानसागर, भट्टा० सकलकीर्त्ति, हरिकृष्ण पांडे, नाथूलाल दोशी गुणभद्र।

२ पुष्पांजलि—खुशालचंद्र, गुणभद्र (अपभ्रंश), ललितकीर्त्ति।

३ रविव्रत—खुशालचंद्र, नेमिदत्त भाऊ, भानुकीर्त्ति, रत्नभूषण, जसकीर्त्ति (अप०) ज्ञानसागर, सकलकीर्त्ति, अचलकीर्त्ति,

४ रोहिणी—विशालकीर्त्ति, पं० ज्ञानसागर, हेमराज, भगवान् सागर, लक्ष्मीसेन।

५ पुरंदर—अपभ्रंश का भी है।

६ ऋषि पंचमी—प्र०

७ दशलक्षण—रइधु, अभयचंद्र, गुणभद्र, भावशर्म, भैरौंदास, ज्ञानसागर, हरिकृष्ण।

८ हनुवंतकथा—ब्रह्मरायमल्ल।

९ अणथमी कथा—हरिश्चन्द्र अग्रवाल, रइधु।

१० अनंतचतुर्दशी—महेश, पद्मनन्दि, गुणभद्र, ज्ञानसागर, मैरूदास, हरिकृष्ण, ज्ञानचंद्र

११ आकाश पंचमी—गुणभद्र (अपभ्रंश), खुशालचन्द्र, वासीदास, हरिकृष्ण।

१२ षोड़शकारण—रइधु, मैरूदास, ब्रह्म ज्ञानसागर, सकलकीर्त्ति, नाथूलाल, गुणभद्र।

१३ चंदनषष्ठि—गुणभद्र (अप०), खुशालचन्द्र।

१४ चन्द्रायण—पं० लालू (प्रा०), गुणभद्र।

१५ जिनरात्रिकथा—यश कीर्ति, ज्ञानसागर।

१६ जगत्‌ सिन्दूर-व्रत —श्रीभूषण।

१७ अष्टाह्निका—नाथूलाल दोसी, विश्वभूषण, ज्ञानसागर।

१८ श्रवणकथा—

१९ श्रुतपञ्चमी—बनवारी लाल, भ० सुरेन्द्रनाथ (भूषण ?) पृथ्वीपाल, विष्णु।

२० रविव्रत—जैनेन्द्रकिशोर।

२१ लब्धिविधान—ज्ञानसागर, गुणभद्र।

२२ मानपकारशी (?)—प्रकाशित, गुणचन्द्रसूरि।

२३ मुकुट सप्तमी—पं० अक्षराय खुशालचन्द्र, गुणभद्र।

२४ रत्नत्रय—ज्ञानसागर, दामोदर।

२५ श्रावण द्वादशी—ज्ञानसागर।

२६ होलीकथा—छीतरठोल्या, ज्ञानसागर।

२७ रोहिणी—जिनचन्द्र, गुणभद्र हेमराज।

२८ पाकचूर—शिवप्रसाद।

२९ सुगन्धदशमी—विमलकीर्ति।

३० सुगन्धदशमी—खुशालचन्द्र, ब्रह्म ज्ञानसागर, मकरंद पद्मावतीपुरवाल, भैरोदास, प सुतसागर, गुणभद्र।

३१ व्रतकथाकोष—पृथ्वीपाल, बख्तावरमल, रतनलाल, खुशालचन्द्र (काला)

३२ दर्शन, ज्ञान, शील रात्रि भोजन—भारमल भरौसा।

३३ सुगन्धदशमी—श्रीधर, विनयचन्द्र, गुणभद्र (अप०), ज्ञानसागर।

३४ निर्झर पञ्चमी—विनयचन्द्र (अप०)

३५ निर्दोष सप्तमी—गुणभद्र, रायमल, ज्ञानसागर।

३६ पल्य व्रत—शुभचन्द्र।

३७ पारवइ—गुणभद्र।

३८ श्रावण द्वादशी—गुणभद्र, आभू

३९ अष्टमी—गुणानकीर्ति, भैरोदास, जोगीदास।

४० जिनगुणसम्पत्ति—ललितकीर्ति।

४१ निशि भोजन—किसन सिंह।

४२ निःशल्य—ज्ञानसागर।

४३ मुक्तावलि—छजमल।

इस लघु लेख में जिन व्रतकथाओं* का परिचय दिया जा रहा है उनका दो दृष्टियों से महत्व है :-१ अपभ्रंश भाषा की इसमें ६ (पूर्ण एवं १ की ६ गाथायें) व्रतकथायें हैं। भारतीय लोक भाषाओं के क्रमिक विकाश के अध्ययन के लिये अपभ्रंश साहित्य का विशेष महत्व है, पर खेद है दिगम्बर साहित्य में इस भाषा का साहित्य प्रचुर होने पर भी हमारे विद्वानों ने उसका विशद इतिहास निर्माण नहीं किया। अन्यथा इन रचनाओं को हिन्दी आदि भाषाओं के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता। दि० समाज का परमावश्यक कर्त्तव्य है कि भाषा विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से शताब्दी वार इनके संग्रह का १ ग्रन्थ प्रकाशित करें एवं अपभ्रंश और हिन्दी दि० साहित्य का परिचायक आलोचनात्मक इतिहास प्रकाशित करें। २ इसमें आई हुई अधिकतर रचनायें यथावधि अज्ञात हैं। इस दृष्टि से इस लेख द्वारा हमें कई नये ग्रन्थकारों एवं कई ज्ञात ग्रन्थकारों की नवीन रचनाओं का पता चला है खोज करने पर और भी ऐसे अनेकों नये-नये ग्रन्थों का पता चल सकता है।

१ जैन गुर्जर कविओ भा० १ पृ० ६१ में जयचन्द्र सागर के जैन मंदिर की प्रति का उद्धरण दिया है जिसमें ३७ कृतियाँ हैं उनमें १० अपभ्रंश भाषा में व्रतकथायें हैं:— १ सुअंधदसमी-कहा २ रोहिणी विधान कथा ३ मुक्तावलि विधान ४ अनन्त व्रतकथा ५ निर्दोष सप्तमी कथा ६ पासवई-कहा ७ जिन पुरंदर कथा ८ उद्धरण कथा ९ जिन रात्रि विधान १० सोलह कारण जयमाला, इनमें से रोहिणी कथा के कर्त्ता देवनन्दि है अन्य के अज्ञात हैं इस ग्रन्थ में उद्धृत सुगन्धदसमी कथा का आद्य पद्य मेरे निर्देशित ही है। संभव है और भी कई कृतियाँ मिलाने पर अभिन्न होने का पता चले।

१ पुष्पांजलिकथा—पं० हरिचन्द्रकृत गद्य-पद्य

आदिः—विप्रस्य देह जवरापि सुगेवभूव पुष्पांजले विंधिमवाप्यततोपिचक्री।
मुक्तश्चादिव्य तपसोविधिमाविधाय नित्यं ततोहि जिनपं विभुमर्चयामि।

—अस्य कथा -

× × × ×

अंतः—यः कुरुते पठति लिखति व्याख्याति उपदेशयति श्रृणोति स सर्व्वदा सुखं लभते ॥६॥ पुष्पांजलि कथा पंडित हरिचंद्रकृता समाप्तेति

२ श्रावण द्वादशी कथा—चंद्रभूषणशि० पं० अभ्र श्लोक ८०

आदिः—प्रणम्य परम ब्रह्म केवलज्ञानगोचरं,
वक्ष्येभव्यप्रबोधाय श्रावण द्वादशीं कथां ॥१॥

× × × ×

*वैदिक धर्मावलम्बियों के व्रत आदि का विशेष परिचय कल्याण में प्रकाशित एक लेखमाला द्वारा पाया जाता है।

अंत - चन्द्रभूषण शिष्येण कथेयं पापहारिणी ।
संस्कृता पंडिताभ्रेण कृता प्राकृत सूत्रत ।८०।

३ आकाशपंचमी कथा श्लोक ९७

आदि प्रणम्य वीतरागस्य पादयुग्म भवच्छिद ।
कथाकाशपंचम्या, वक्ष्येह पूर्वसूत्रत ।१।

× × × ×

अंत —ये सम्यक्त्व न त्यजते कदाचित्ते नायते कर्मगंजने मुक्ता ।
शुद्ध त्रेधाये व्रत पालयन्ते किं ग्राश्चर्यंतेच गच्छति मोक्ष ।९७

४ रत्नत्रय कथा—पं० रत्नकीर्ति, गद्य

आदि —श्रीवर्द्धमानस्य गौतमादिकमद्गुरून् ।
रत्नत्रयकथा वक्ष्ये यथाम्नाय निमुक्तये ।

अंत —तत्र कल्याणकपूजाप्रभावनाकारि अन्योय कोपि पुरुष स्त्री
वा एतद्विधान समाचरति भावपूर्वक स एव निधिफल प्राप्नोति न संदेह ।
॥६॥ पंडित रत्नकीर्ति विरचिते रत्नत्रय विधानकथा समाप्ता ॥

५ षोडशकारणकथा—पं० अभ्र संस्कृत श्लोक ७१ फिर ६ पद्य अपभ्रंश ।

आदि —रत्नत्रय नमस्कृत्य कर्मघ्न मोक्षमार्गदं ।
षोडशाह प्रवक्ष्यामि कारणानि जिनागमान ।१

× × × ×

अंत —इय सोलह कारण कम्म नियारण जे धरति वय सीलधरा ।
ते दिवि अमरेसर भुवणिनरेसर सिद्धवरगण हियइहरा ॥
इत्यभ्र पंडित कृत जयमाला सह षोडशकारणकथा व्यवहारविधान समाप्तम् ।

६ लब्धिविधान कथा—पं० अभ्र गणिन, हर्षप्रभ आग्रह, श्लोक २१०

आदि —दद्यार्थलोकत्रयमुद्धर्तुर्य पचपरमेष्ठिन ।
तान्नमस्कृत्य वक्ष्येह व्रत लब्धिविधानकं ।

× × × ×

यो लेखयति यथार्थं शृणोति वाचयति भावयत्यनिशं ।
स च लभते परमसुख कथितमिद पंडिताभ्रेण ।२०९।
जिनसूत्रानुसारेण हर्ष भक्तोपरोधत. ।
भव्य प्रबोधनार्थायममेय रचिता कथा ।२१०।

७ श्रुतस्कंध विधान कथाः—
आदि :—श्रीगौतमस्वामिगणधरदेवेन श्रेणिकमहाराज्ञः
श्रुतस्कंधविधान कथयतु प्रारब्धं ।
× × ×
अंतः—एतत्श्रुतस्कंधविधानं श्रेणिकमहाराज्ञः कथितं गौतमस्वामिना
चातुर्वर्णसंघेन स्वशक्त्या च कर्तव्या ।

८ रुक्मिनी चरितविधान—छत्रसेन रचित नरदेव कारापित श्लोक ५९
आदि - जिनं प्रणम्य नेमीशं संसारार्णवतारकं ।
रूक्मिनीचरितं वक्ष्ये, भव्यानां बोधकारणं ।१।
अंतः—नेमिनाथो जिनाधीशः संसारद्रुमपावकः ।
मोक्षसौख्यं जनाभ्यर्थ्यं मह्यं दिशतु सत्वरं ।५९।
इति छत्रसेन विरचिता नरदेवकारापिता रुक्मिनीविधान कथानकम्

९ पल्यविधान ।
आदिः—नमो नाभेयमित्राय काममल्लविनाशिने ।
विमुक्तिपदप्राप्ताय भव्यांबुजविकाशिने ।१।
× × ×
अंतः—जिनगृहोपकरणानि जिनायतने निवेदनीया नीतिपल्यविधानं समाप्तं ।

१० दशलाक्षणिकाविधान— लोकसेन— गद्यपद्य
आदिः—इह जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको नाम ।
अंतः—श्रेणिकः स्वगृहे श्री महावीरस्यसमोवशरणं लोकानामुद्धरणाय ।
पर्यटति । कृतिरियं लोकसेनस्य दशलाक्षणिक कथेयं समाप्तेति ।

११ मुक्तावलि—अपभ्रंश ।
आदिः—वीर जिणंदहं पयकमलु वंदिवि गुरु गोयमुपणविज्जइ ।
रयणात्तउ मणिधरिवि मइ ।
अंतः—जो विहिणा व वसह एरु विहे सो कमेण जिहपोमरहो ।
सिव सुख लहइ सइ उत्तरि विभवसमुद्दु दुग्राहुल्म ।१०।

१२ चंदनषष्ठी विधान—
आदिः—श्रीमहावीर देवगणधरः श्रेणिकस्य चंदनषष्टिविधानकथां कथयति ।
× × ×

पणवेप्पिणुभावें गिमलसहावेंपायपोम परमेट्ठिहें ।
अमरगिमिणि सखिए भनियणभत्तिए जफलु चदणछट्ठि हें ।
× × ×

अत इय चदण छट्ठिहि जो पालइ वहुलक्खणु ।
सो दिवि भुजइ मोक्खु मोक्खु होणणें लक्खणु ॥६॥
विधि मस्कृत में, कथा अपभ्रंश में है ।

१३ जिनरात्रिविधान कथा— (पत्र ३३ से ६३) अपभ्रंश ।
आदि —पणविवि सिरिसल हो आइस जुत्त हो वीर होणासिय पावमलु ।
णिचलमणा भव्वह णियलिय गब्बहअक्खमि पुड जिणरत्ति फलु ।१।
× × ×

अंत —एण वराणिज्जियराइजर विणि गारिय चउविह गइ ।
जय सामण विग्घ विणासण, यहु पडतुमहामइ ।१।

१४ जिनपुरन्दरविधान कथा—अमर कीर्ति— अपभ्रंश-
आदि —सिरि वीर जिणद हो समसरणे सेणिय रायहो पुण्णणिहे ।
जिणपूजपुरदर विहि कहिउ, त आयणहिं णिहियदिहि ।१।
× × ×

अंत —जिणपूयापुरदर विहि करए एकवार जो इच्छुणरो ।
सो अंत पमाय हवेइ लहु अमरकित्ति तियसेसरु ।१२।

१५ रोहिणी विधान कथा— सस्कृत गद्य-
आदि —वासुपूज्य जिन नत्वा कथा वक्ष्ये जिनानमान् ।
दुर्गंधा च व्रतेनाभूत् रोहिणी प्रिया रोहिणी ।१।
× × ×

अंत —रोहिणी विधान करोति स एव विध फल प्राप्नोति इहैव यश कीर्तिश्च ।

१६ त्रिकाल चौबीसी कथा—अभ्रदेव श्लोक ७६
आदि —स्मृत्वापचनमस्कार धृत्वा रत्नत्रय हृदि ।
सर्वज्ञश्रुतसाधूना नत्वा पादाबुजद्वय ।१।
अंत —इय कथाभ्रदेवेन कथिता दुःखहारिणी ।
येन सश्रूयते नित्य लभ्यते न मोक्षसा ।७६।

१७ निदूष सप्तमी उदयचंद्र, शि० बालचंद्र अपभ्रंश-

आदिः—संति जिणंदहं पयकमलु भवभयकलुसकलंक निवारा ।
उदयचन्दु गुरु धरिवि मणे, बालइन्दु मुणि नविवि निरुंतरु ।१।

अंतः—वच्छर सत्तजाम धसतारिहिं विहि भाविज्जइ इह नरनारिहि ।
किज्जइ धणसत्तिहिं उज्जवणाउ विविह पहावणेण दुहदमणाउं ।
आयणिवि मुणिभासियउ राण गुणअनुराउ वहत्तें ।
लयउ धम्मु सावयजणहो तियरणेहिं विहि उत्तमसत्तें ।२०।

१८ दुधारसीविधाननरगउतारी कथा—उदयचन्द्र, शि०बालचन्द्र ।

आदिः—समवसरणि सिंहासणि वइठउ सोजि देउ महुमण इं पइट्ठउ ।
अवरिजि हरिहर बंभ पुडिल्ला, ते पुणु नवउं न मोहगहिल्ला ।

× × ×

उदयचंदु गुणगणहं जुगरुवउ सोमइ भावें मण अणुसरियउ ।
बालयन्दु मुनिणवोवियिरंतरु नरग उतारी कहमि कहंतरु ।

× × ×

अंतः—अमियसरीसउ जवणजलु नयरु महावणु सग्गु ।
तहिं जिणभवणिवसं ताइणा विरइ रासु समग्गु ।१६।

१६ निर्झर पंचमी विधान कथा—उदयचन्द्र,—शि० बालचन्द्र ।

आदिः—पणविवि पंच महागुरु सारद धिरविमणे
उदयचन्द्रगुरुसुमरिवि वंदि बालमुणे ।

× × ×

अंतः—इय पंचमि संखेयं अक्खियपंचपय ।
तिहुअण गिरितल हट्ठिय इह रासउ रइउ ।
माथुरसंघहं मुणिद रुविणइन्दें कहिय ।
भवियहु पढहु २ पढ़ावहु दुरियहं देहु जलु
माणुमकरहु मरुसहुमणुर वंचहु अवलु ।
जिणभणंति भडारा पंचमि पंचपहु ।
अम्हिहिंते दरिसाविय अविचलु सिद्धि पहु ।

२० सुगन्ध दसमी कथा —

आदि— जिण चउवीसनवेप्पिणुभाउ धरेप्पिणु देवत्तह चउवीसह
पुणु फलु आहासमिधम्मु पयासमि नर सुयन्ध दसमिहिं जह।
पुच्छिउ सेणिएण तित्थकरु कहहि सुगधदसमि फलु मणहरु।

अंत—प्रति में पत्र ९२ से ९५ तक नहीं होने के कारण अंत नहीं मिल सका पर जैन गूर्जर कविओ भाग १ पृ० ३ में उद्धृत सुगन्ध दसमी कथा के पद्यों से ज्ञात होता है कि इसकी पूरी प्रति जसयतसागर के जैनमन्दिर में है।

२१ चौदह गुण ठाण ? विधान कथा।

इसका भी प्रारम्भिक भाग व अन्त भाग प्रति के मध्य पत्रों के न मिलने एवं अपूर्ण रह जाने से प्राप्त नहीं है। इस व्रत कथा का नाम भी आदि अन्त के न होने से निश्चित नहीं कहा जा सकता पर २-३ उल्लेखों से उपर्युक्त नाम ही सम्भव है। वे उल्लेख ये हैं।

गुणठाण वासाइं पुज्जतिणिरु जाम श्रमुणा पयारेण विहिएहदिय ताम।
× × ×
चउदहवरिसतह उज्जवणु ज किज्जइ भवियण हो पुण्णु।
× × ×
गुण ठाणसत्थाइं लेहाविऊण सुदिज्जन्ति निग्गत्थवेसेसुणूण
× × ×

प्रति के अंत पत्र प्राप्त न होने से कहा नहीं जा सकता कि प्रति में और कौनसी रचनायें थीं।

प्रति परिचय—प्रस्तुत प्रति बीकानेर के श्रीजिनचारित्रसूरि संग्रह की है इसके पत्रों की संख्या १०० है प्रत्येक में १०, ११ पंक्तियाँ एवं प्रति पंक्ति अक्षर ३६ के लगभग हैं। कागज काफी मजबूत है। अनुमानतः, यह प्रति १६ वीं शताब्दी की लिखी हुई प्रतीत होती है।

अपभ्रंश भाषा का काल

(ले०—श्रीयुत पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

भारत की प्राचीन संस्कृत, प्राकृत और पालि आदि भाषाओं को जो साहित्यिक महत्व प्राप्त हुआ है वही महत्व प्रायः अपभ्रंश भाषा को भी प्राप्त हुआ जान पड़ता है। इस भाषा के विपुल एवं विशाल साहित्य की ओर दृष्टिपात करने मे संदेह को इसमें कोई गुंजाइश नहीं रहती। साहित्य की विशालता एवं महत्ता से ही उसके अभ्युदय एवं विकास का इतिवृत्त जाना जा सकता है। अपभ्रंश भाषा का जो भी थोड़ा सा साहित्य प्रकाश में आ पाया है उससे उसकी प्रौढता, गम्भीरता और प्रतिष्ठा का अनुमान किया जा सकता है। जैन समाज में इस भाषा के साहित्य की विपुलता देखी जाती है। श्वेताम्बर समाज की अपेक्षा दिगम्बर समाज में संस्कृत, प्राकृत, कन्नड, तामिल और तेलगु आदि भाषाओं की तरह अपभ्रंश का भी विशाल साहित्य दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि इस भाषा में अधिकतर पुराण-चरित्र एवं कथा साहित्य की ही सृष्टि हुई है। परन्तु इस भाषा का कोई दार्शनिक ग्रंथ अभी तक देखने में नहीं आया। इस भाषा की साहित्यिक विशालता को देखकर यह कहने मे कोई संकोच नहीं होता कि एक समय ऐसा भी था जब कि यह भाषा सर्व साधारण की बोलचाल की भाषा थी। जैनियों की इस भाषा ने ही हिन्दी भाषा को जन्म दिया है जो आज राष्ट्र भाषा बनती जा रही है। इसके उत्थान-पतन आदि का कोई प्रामाणिक इतिवृत्त अभी तक प्रकट नहीं हुआ जिससे इस भाषा के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती। इसका प्रधान कारण साहित्य का अप्रकाशन एवं उसकी एक मुकम्मल सूची का न बनना ही जान पडता है। विक्रम की ७वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर रूप से अपभ्रंश भाषा अपने साहित्यिक रूप में दृष्टिगोचर होती है। संभव है कि विक्रम की १७वीं शताब्दी के बाद भी कुछ समय तक यह साहित्यिक भाषा रही हो।

जैन सिद्धांत भास्कर भाग १० किरण २ में पं० रामजी उपाध्याय एम. ए. ने पंडित रइधू के सुकौशल चरित पर एक लेख लिखा है जिसके आरंभ में अपभ्रंश भाषा का साहित्यिक काल १५वीं तक बतलाते हुए सुकौशल चरित को "अपभ्रंश के साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना है। अभी तक अपभ्रंश भाषा का कोई भी ग्रंथ इसके बाद का लिखा हुआ नहीं मिला है।" ऐसा प्रकट किया है।

आपका रइधू के सुकौशल चरित को साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना मानना ठीक नहीं है। कवि रइधू ने अपभ्रंश भाषा में २३ ग्रंथों की रचना की है[†] और

---

†देखो अनेकान्त वर्ष ५।

वे सब रचनाएँ दिगम्बर ग्रंथ भंडारों में उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ रचनाएं ग्वालियर के राजा डूगरसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल में भी रची गई हैं। संवत् १५१० के एक मूर्ति लेख से यह स्पष्ट है कि संवत् १५१० तक ग्वालियर की राज्यसत्ता राजा डूगरसिंह के ही हाथ में थी* उस समय तक राज्य का उत्तराधिकार उनके पुत्र कीर्तिसिंह को प्राप्त नहीं हुआ था। चूंकि रइधू ने अपनी 'सम्यक्त्व कौमुदी' राजा कीर्तिसिंह के राज्यकाल में बनाई है, अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि संवत् १५१० के बाद जब कभी राजसत्ता कीर्तिसिंह के हाथ आई, तब सम्यक्त्व कौमुदी का निर्माण किया गया। ऐसी हालत में रइधू का सुकोशलचरित साहित्यिक जीवन के अंतिमकाल की रचना नहीं हो सकता, उक्त चरित के बाद भी कवि ने कई ग्रन्थों की रचना की है जो सोलहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग कहा जा सकता है, और इसके बाद भी १६वीं १७वीं शताब्दी में अपभ्रंश भाषा में ग्रंथों का निर्माण कार्य हुआ है, जिससे उक्त चरित उस भाषा के अंतिमकाल की रचना किसी तरह नहीं कहा जा सकता।

अब मैं पाठकों की जानकारी के लिये १५वीं शताब्दी के बाद के दो तीन अपभ्रंश भाषा के ग्रंथों का सामान्य परिचय देकर इस लेख को समाप्त करता हूँ।

कवि माणिक्यराज ने 'नागकुमार चरित' की रचना विक्रम सं० १५७९ में फाल्गुण शुक्ला ९ मी के दिन की है। इस ग्रन्थ की एक खंडित प्रति जयपुर स्टेट की प्राचीन राजधानी आमेर या अम्बेर के भट्टारक महेन्द्र कीर्ति के ग्रन्थ भण्डार में है जिसकी पत्र संख्या १२४ है उसमें आदि के दो पत्र नहीं हैं। प्रति लिपि सं० १५९२ की है। इसमें भी संधियां हैं ग्रन्थ की आनुमानिक श्लोक संख्या ३३०० है। ग्रन्थ में कर्ता का कोई परिचय नहीं मिला। कवि माणिक्यराज ने इस ग्रंथ को चौधरी जगसी के पुत्र राज रजण चौधरी टोडरमल्ल को समर्पित किया है। और टोडरमल्ल ने सतुष्ट होकर ग्रन्थकर्ता का वस्त्राभूषणादि के द्वारा यथोचित सत्कार किया है। कवि ने टोडरमल्ल को देव, शास्त्र, गुरु का भक्त, चार प्रकार के संघ का संपोषक, दयालु तथा अपने परिवार का पालक एवं धर्मनिष्ठ बतलाया है।+

*सिद्धि संवत् १५१० वर्षे माघ सुदी ८ अष्टम्यां श्री गोपगिरौ महाराजाधिराज राजाश्री डूगरेन्द्र राज्य प्र० (प्रवर्तमाने) श्री काष्ठसंघे माथुरान्वये भट्टारक श्रीक्षेमकीर्ति देवा ।
देखो जैनलेख संग्रह भाग १ पृ० ६३

+विक्कम रायह ववगयकालें । ले समुणीस विसर अकालें ।
पयारह सइ गुणयासियउरवालें । फागुण चत्रिण पक्खि ससि वारें ।
णवमी सुह णक्खित्तु सुहवाल ।

× × × ×

सिरि विरधी घट्ट पसाय सुदह । हुउ पवि पुरणु पच्चुरसमद्दिह ।

—नागकुमार चरित्र पत्र १२५

दूसरा ग्रन्थ शांतिनाथ चरित्र है जिसके कर्ता इल्लराज के पुत्र महिंदु या महाचंद्र हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना योगिनीपुर (दिल्ली) में बाबर बादशाह के राज्यकाल में विक्रम सं० १५८७ के कार्तिक मास के प्रथम पक्ष की पंचमी के दिन पूर्ण की है। जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है :—

विक्कमरायहु ववगयकालइ् रिसिवसुसरभुवि अंकालइ् ।
कत्तिय पढम पक्खि पंचम दिणि हुउ परिपुगुण वि उग्गंतइ् इणि ॥

इस ग्रन्थ का परिचय अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७ में दिया जा चुका है।

तीसरा ग्रन्थ मृगांक लेखा चरित्र है, जिसके कर्ता प० भगवतीदास हैं, जो देहली गद्दी के भट्टारक माहिंद्र या महेन्द्रसेन के शिष्य थे। इनका विशेष परिचय किसी दूसरे ही स्वतंत्र लेख द्वारा दिया जायगा। इसकी रचना विक्रम सं० १७०० के अगहन सुदी पंचमी सोमवार के दिन हिसार के वर्द्धमान चैत्यालय में हुई है जैसा कि उसके निम्न प्रशस्ति पद्यों से प्रकट है ‌:—

घत्ता—सगदह सय संवदती तहं विक्कमराय महप्पए।
अगहण सिय पंचमि सोमदिणे पुराण ठियउ अवियप्पए ॥१५॥
दुवई—चरिउ मइंकलेह चिरु णंदउ। जाम गयणि रवि-ससिहरो।
मंगल यारुह वइजणि मेइणि धम्मपसंग्गहि द करो? ॥१६॥
गाथा—रइओ कोटि हिसारे जिणहरि वरवीर वड्ढमाणस्स।
तत्थठियो वयधारो जोईदासो वि बंभयारीओ ॥१७

× × × ×

इयरिचंद लेहकहाएरंजिय वुहचित्त सहाए भट्टारक सिरि मुणि माहिंदसेण सीसु विवुह भगवइदास विरइए ससिलेहा सग्ग गमण इत्थिलिंग छेउ इंद पयवी पप्पणं सायरचंद णिव्वाण गमणं तव दीरवर साहणं णामचउत्थो संधि परिच्छेओ सम्मत्तो। इति श्रीपंडिगवतीदासकृत मृगांकलखा चरितं सम्पूर्ण समासं।४।

ऊपर के समस्त विवेचन पर से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा केवल १५ वीं शताब्दी तक ही साहित्यिक भाषा नहीं, किन्तु १६वीं, १७वीं शताब्दियों में भी साहित्यिक रचनाएं होती रहीं है। रइधू का सुकौशल चरित भी अपभ्रंश के साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना नहीं है।

क्या समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन हैं ?

(ले०— न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १२ में 'स्वामी समन्तभद्र और दिग्नाग में पूर्ववर्ती कौन ?' शीर्षकके साथ मैंने एक लेख लिखा था। इस लेखमें स्वामी समन्तभद्र और बौद्ध विद्वान् दिग्नागके साहित्यका तुलनात्मक अन्तः परीक्षण करके यह स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र दिग्नाग (४२५ A D) के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। साथ ही दिग्नागके उत्तरवर्ती भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्तिके भी साहित्यके साथ समन्तभद्रके साहित्यका अन्तः परीक्षण करके इन विद्वानों से भी समन्तभद्रको पूर्ववर्ती प्रकट किया है। यह लेख अनेक विद्वानोंको पसन्द आया और मुझे उन कारणोंपर भी प्रकाश डालनेके लिये प्रेरित किया जिन कारणोंके आधारपर कुछ विद्वानोंने समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती बताया है। यद्यपि मेरे उपर्युक्त 'अनेकान्त' वाले लेखके बाद इन कारणोंका अधिक महत्त्व नहीं रहता और इसलिये इनपर विचार करना खास आवश्यक नहीं है—उन विद्वानोंको उक्त लेख में ही इनका पर्याप्त उत्तर मिल जाता है तथापि यह विषय और अधिक स्पष्ट हो जाय और दूसरे विद्वानों तथा पाठकोंको भी इस सम्बन्धमें कोई भ्रम या सन्देह न रहे। अतः इन कारणोंपर आज इस लेख द्वारा विचार किया जाता है।

कारण :—

१ समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित 'विरूपकार्यारम्भाय' आदि कारिकाओंकी समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने समग्र दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्ध दर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी समालोचना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।' —न्यायकु० द्वि० भा० प्र० पृ० २७

२ 'अधिक सम्भव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच साक्षात् विद्याका ही सम्बन्ध हो, क्योंकि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्व प्रथम अकलङ्ककी ही व्याख्या है।'
—अकलङ्क ग्र० प्रा० पृ० ९

३ 'यह भी सम्भव है कि शान्तिरक्षितके तत्त्वसंग्रहगत पात्र स्वामी शब्द स्वामी समन्तभद्रका ही सूचक हो।'—अकलङ्क ग्र० प्रा० पृ० ५

४ समन्तभद्रके साथ धर्मकीर्तिका विचार और शब्द का साम्य पाया जाता है। 'दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयगत मङ्गल श्लोकके ऊपर ही उसके व्याख्यान रूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकका प्रथम परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाणभूत सुगतको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरहसे समन्तभद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाले मङ्गलको लेकर उसके ऊपर आप्तमीमांसा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरको ही आप्त प्रमाण स्थापित किया है यह तो विचार साम्य हुआ। शब्द साम्य भी है। 'धर्मकीर्तिने सुगतको 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' (प्रमाण वा० १।१३५) 'वैधर्म्यात् वचनानृतम्'

(प्रमाणवा० १।१४७) कह कर अविरुद्धभाषी कहा है। समन्तभद्रने भी 'युक्ति-शास्त्राविरोधि-वाक्' (आप्तमी० का० ६) कह कर जैन तीर्थकरको सर्वज्ञ स्थापित किया है।' अतः समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन हैं। —न्यायकु० द्वि० प्रा० पृ० २०, १९

५ 'समन्तभद्रके 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' तथा 'संज्ञासंख्याविशेषाच्च' (आप्त मी० का० ७१,७२) इन दो पद्योंके प्रत्येक शब्दका खंडन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चट (९०० A D.) ने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अत. कमसे कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते। —न्याय कु० द्वि० प्रा० पृ० १९, २०

उपर्युक्त कारणों पर विचार :—

ये पांच कारण हैं। इन कारणों में प्रथम कारण के उद्भावक तो न्यायाचार्य पं० महेन्द्र-कुमारजी हैं और वे समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरकालीन अनुमानित करते हैं। शेष चार कारणोंको श्रीमान पं० सुखलालजीने प्रस्तुत किया है और वे समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका परवर्ती बतलाते हैं। यद्यपि ये प्रायः सभी कारण अपने वर्तमान रूपमें संभावनारूप ही हैं—कोई निर्णय रूप नहीं हैं और जिससे यह मालूम होता कि इन कारणोंके प्रस्तावक दोनों ही विद्वान् अभी और भी विचार करनेको प्रस्तुत हैं, इतना ही नहीं किन्तु—प्रामाणिक सूचना मिलने पर इन कारणोंके सम्बन्धमें भी पुनर्विचार कर सकते हैं, ऐसी भी मुझे आशा है। अतः इन पांचों ही कारणों पर यहां क्रमशः विचार किया जाता है, जिससे यह निर्णय हो सके कि वस्तुतः उक्त कारण समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन सिद्ध करनेमें समर्थ हैं कि नहीं ?

दिग्नागके उत्तरवर्तित्वकी मान्यतापर विचार :—

१ समन्तभद्रकी 'विरूपकार्यारम्भाय' आदि जिन कारिकाओंकी समीक्षाके अधारपर समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरवर्ती प्रतिपादन किया है यदि उन कारिकाओंकी समीक्षा दिग्नागके पूर्ववर्ती प्रसिद्ध बौद्धतार्किक नागार्जुनके ग्रन्थोंके साथ की जाय तो स्पष्टतः मालूम हो जाता है कि समन्तभद्रके सामने नागार्जुनके ग्रन्थ रहे न कि दिग्नागके। नमूनेके[1] तौर पर यहां एक उदाहरण उपस्थित कियां जाता है। बौद्ध विद्वान् नागार्जुन कहते हैं :—

अथ ते प्रमाणसिद्ध्या प्रमेयसिद्धिः प्रमेयसिद्ध्या च।
भवति प्रमाणसिद्धिः नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धिः॥ —विग्रहव्या० का० ४७

स्वामी समन्तभद्र कहते हैं —

याद्यापेक्षिक सिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते। —आप्तमी० का० ७३

१ विशेष रूपसे जाननेके लिये 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षक अप्रकाशित लेखकी प्रतीक्षा करें जो मैं शीघ्रही प्रकट करने वाला हूं और जिसमें नागार्जुन और समन्तभद्रके साहित्यका आभ्यन्तर परीक्षण करके समन्तभद्रको नागार्जुनका समकालीन या कुछही समय बादका विद्वान् स्थिर किया है।

नागार्जुन कहते हैं —

यदि च प्रमेयसिद्धिरपेक्ष्यैव भवति प्रमाणानि ।
किं ते प्रमाणसिद्धया तानि यदर्थं प्रसिद्धं तत् ॥ विग्रहव्या० का० ४६

आ० समन्तभद्र भी इसी बातको कहते हैं —

अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्य विशेषता । —आप्तमी० का० ७३

नागार्जुन पुनः कहते हैं —

यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरनपेक्ष्य ते प्रमेयाणि ।
भवति प्रमाणसिद्धिः न परापेक्षा हि सिद्धिः ॥ —विग्रहव्या० का० ४१

समन्तभद्र उक्त वाक्योंके आधार पर अनेकान्तदृष्टिसे व्यवस्था करते हुये कहते हैं —

धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्ध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।
न स्वरूपं स्वतोह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥ —आप्तमी० ७५

पाठक देखेंगे, यहां समन्तभद्र और नागार्जुन में कितना स्पष्ट विचार और शब्दका साम्य है, जो हमें बतलाता है कि समन्तभद्रके समक्ष नागार्जुनके ग्रन्थ रहे दिग्नाग के नहीं। दिग्नागके ग्रन्थोंका सद्भाव तो उस हालतमें माना जा सकता था जब उनमें प्रतिपादित विचार दिग्नागसे पूर्व समर्थित न होता और समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें दिग्नागके ही किसी ऐसे विचारका आलोचन या अनुसरण पाया जाता जो खास दिग्नागका ही होता, किन्तु हम देखते हैं कि ऐसे विचारोंका, जिनका उद्भव सीधा दिग्नागसे है, आलोचन या अनुसरण समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता। प्रत्युत समन्तभद्रका आलोचन दिग्नागने किया है। दार्शनिक युगमें 'अज्ञान निवृत्ति' को प्रमाणका फल कहनेवाले सब प्रथम जैन तार्किक स्वामी समन्तभद्र हैं और उसका खण्डन दिग्नागने 'अज्ञान निवृत्ति' को असत् बतलाकर किया है।[1] अतः स्पष्ट है कि दिग्नागके ग्रन्थ समन्तभद्रके सामने नहीं रहे। बौद्धदर्शनकी जिस स्पष्ट विचारधाराको दिग्नागसे मानते हैं और उसके पूर्व उसके न होनेकी सम्भावना प्रकट करते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि नागार्जुन और वसुबन्धुके, 'माध्यमिका', 'विग्रहव्यावर्तनी', 'विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' और 'त्रिंशिका विज्ञप्तिकारिका' आदि प्रकरण ग्रन्थोंका ध्यानसे सूक्ष्म समीक्षण किया जाय तो हम उनमें उक्त बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचारधारा पाते हैं। वस्तुतः तर्क विकास यहींसे शुरू हुआ है जो दिग्नाग और धर्मकीर्ति आदिके द्वारा उसी प्रकार पूर्णताको प्राप्त हुआ है जिस प्रकार जैनदर्शनका तर्क विकास समन्तभद्र और सिद्धसेनसे शुरू होकर अकलङ्क और विद्यानन्द आदिके द्वारा चरम सीमाको प्राप्त हुआ है। इसलिये समन्तभद्रको दिग्नागसे उत्तरकालीन माननेके लिये जो 'बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचार

1 इसकी पूर्वोल्लिखित 'समन्तभद्र [illegible] पूर्ववर्ती कौन है?' लेख 'अनेकान्त' वर्ष
किरण १२

धाराकी संभावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती' रूप हेतु प्रस्तुत किया गया है वह अव्यभिचारी नहीं है क्योंकि उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि नागार्जुनादि प्रसिद्ध बौद्ध तार्किकोंके ग्रन्थोंमें बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचारधारा पायी जाती है और इसलिये समन्तभद्र दिग्नागके उत्तरवर्ती नहीं हैं किन्तु दिग्नागके पूर्ववर्ती और नागार्जुनके (१८१ A. D.) उत्तरकालीन या सम-सामयिक है।

यहां मैं इतना और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि समन्तभद्रकी 'विरूपकार्यारम्भाय' आदि जिन कारिकाओंका हवाला दिया गया है और फलितार्थरूपमें यह कहा गया है कि उक्त कारिकाएँ दिग्नागके विचारोंका खण्डन करनेके लिये समन्तभद्रने रची हैं, वह ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि जिन विचारोंका खण्डन उक्त कारिकाओंमें पाया जाता है वह विचार नागार्जुनकी निम्न कारिकामें भी है :—

सर्वेषां विसभागानां[1] सभागानां च कर्मणाम्।
प्रति सन्धौ सधातूनामेक उत्पद्यते तु सः॥

—माध्यमिका कारिका पृ० ११४ (कल० सं०)

समन्तभद्रकी उक्त कारिकागत 'विरूपकार्य' शब्द विसभाग' के लिये ही आया है। यदि पंडितजी दिग्नागके उन शब्दोंका भी उल्लेख कर देते जिनके साथ समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंकी समीक्षा की गई है तो उन शब्दोंपर भी विचार कर लिया जाता। अस्तु, दिग्नागके पूर्ववर्ती कितनेही बौद्ध तार्किकोंका साहित्य भी आज उपलब्ध नहीं है अतः यह भी संभव है कि समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंमें उक्त बौद्ध तार्किकोंके विचारोंकाही खण्डन निहित हो। अतः प्रथम कारण समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरवर्त्ती सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है।

धर्मकीर्तिके उत्तरवर्त्तित्वकी मान्यतापर विचार :—

२ दूसरे कारणके सम्बन्धमें मेरा निम्न प्रकार निवेदन है :—

(क) किसीकी कृतिका सर्व प्रथम टीकाकार होना या न होना उन दोनोंके बीच साक्षात् विद्याके सम्बन्धका साधक या बाधक नहीं है (क) धर्मकीर्ति (६२५ A. D.) के वादन्यायपर जो दो टीकायें उपलब्ध हैं वे विनीतदेव (७७५ A D)और शांत रक्षित (८२५ A D.) की हैं। इनमेंसे वादन्यायके सर्वप्रथम टीकाकार विनीतदेव हैं। किन्तु धर्मकीर्ति और विनीतदेवमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि विनीतदेव धर्मकीर्तिसे प्रायः डेढ़ सौ वर्ष बाद हुये हैं।

---

१ (क) 'भिन्न जातीयानि कर्माणि विसभागानि सदृशानि सभागानि……' माध्य० वृ० पृ० ११४

(ख) 'विसदृश रूपं विरूपं कार्यम्'……'सभागविसभागावक्लृप्ति प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात्समनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं……' अष्टस० पृ० १६८, १६६

(ख) श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यपर, जिनका समय विक्रमकी तीसरीसे पांचवीं शताब्दी तक का अनुमानित किया जाता है[1] सर्व प्रथम टीकाएँ ८ वीं सदीके विद्वान् सिद्धसेन गणी और हरिभद्र की हैं किन्तु उमास्वातिके साथ इनका साक्षात् शिष्यका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ये दोनोंही आचार्य उमास्वातिसे प्रायः ३०० ४०० वर्ष बाद हुये हैं।

(ग) समन्तभद्रके 'युक्त्यनुशासन' और स्वयम्भूस्तोत्र' के सर्व प्रथम टीकाकार क्रमशः विद्यानन्द (९ वीं शताब्दी) और प्रभाचन्द्र (११ वीं शताब्दी) हैं। पर इनका समन्तभद्रके साथ साक्षात् शिष्यका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ये दोनोंही आचार्य समन्तभद्रसे बहुत बादके विद्वान हैं।

(घ) सिद्धसेन 'दिवाकर' के जिनका समय 'न्यायावतार' के साहित्यिक आभ्यन्तर परीक्षणसे ईसाकी सातवीं शताब्दी सिद्ध होता है और जिसे स्वयं पण्डितजीने भी स्वीकार किया है, न्यायावतारके सर्व प्रथम टीकाकार सिद्धर्षि (१० वीं शताब्दी) हैं। किन्तु सिद्धसेन दिवाकर और सिद्धर्षिमें साक्षात् शिष्यका सम्बन्ध नहीं है क्योंकि सिद्धर्षि सिद्धसेन दिवाकरसे स्पष्टतः ३०० ४०० वर्ष बाद हुये हैं।

ऐसे कितनेही उदाहरण और दिये जा सकते हैं कि ग्रन्थकार और उसके सर्व प्रथम टीकाकारमें साक्षात् शिष्यका सम्बन्ध नहीं है। अतः किसीकी कृतिका 'सर्व प्रथम टीकाकार होना' साक्षात् शिष्यके सम्बन्धका अव्यभिचरित साधन नहीं है—वह उसका व्यवस्थापक नहीं है। ऐसी हालतमें समन्तभद्रकी कृतिके सर्व प्रथम टीकाकार रूप साधनके द्वारा समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच 'साक्षात् शिष्यत्वका सम्बन्ध' रूप साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती और न उसके द्वारा समन्तभद्रको अकलङ्कका समकालीन बतलाकर धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि आप्तमीमांसाकी व्याख्या अष्टशती साहित्यका अध्ययन करनेपर यह मालूम भी नहीं होता कि समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच गुरु शिष्य का सम्बन्ध रहा होगा। बल्कि स्पष्टतः यही प्रतीत होता है कि अकलङ्क समन्तभद्रसे बहुत बाद हुये हैं और उन्हें आप्तमीमांसा कितनेही पाठभेदोंके साथ प्राप्त हुई थी। मैं यहां एक ऐसा नमूना उपस्थित करता हूँ जिसपरसे पाठक यह सहजमें जान सकेंगे कि वस्तुतः समन्तभद्र अकलङ्कके बहुत पहिले हो चुके थे और उन्हें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा पाठभेद के साथ मिली थी। अकलङ्कदेव आप्तमीमांसाकी एक कारिकाके एक पदका व्याख्यान करते हुये उसके अनेक पाठभेद दिखलाते हैं और 'पाठान्तर मिदं बहु सगृहीतं भवति' जैसे शब्दोंका प्रयोग करते हैं। अष्टशतीका वह स्थल निम्न प्रकार है।

१ देखो 'ज्ञान बिन्दु' प्रस्तावना पृष्ठ ५५

'सपक्षविपक्षयोर्भावाभावाभ्यां साधनवत्। स्वभेदैर्वा संवेदनवत्। सारम्भकावयवैर्वा घटादिवत्। तादृशं हि साधनं स्वार्थक्रियायां तदन्तरेणापि पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' ३ आप्तमी० का० ३३

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र अकलंकके बहुत पहिले हो चुके थे। यदि इनमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध होता तो अकलंक अपने गुरु समन्तभद्रके मुखसे पढ़े सुने पाठको ही रखकर व्याख्यान करते पाठान्तरकी कल्पना न करते। साथही समन्तभद्रको विवक्षित और अति प्रसिद्ध पाठकेही अनेक अर्थ करते हुये भी 'पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' जैसे शब्दोंका वे कदापि प्रयोग न करते। अतः प्रकट है कि समन्तभद्र और अकलंकमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं रहा और न समन्तभद्रके तुरन्तही अकलंक हुये हैं। किन्तु कई शताब्दी बाद हुये जान पड़ते हैं।'

३ तीसरे कारणके सम्बन्धमें मुझे यह कहना है कि संभावना ऐसी होनी चाहिये, जिसके कुछ आधार प्रमाण हों। हमें आश्चर्य है कि पं० सुखलालजी जैसे सूक्ष्म दृष्टिवाले दार्शनिक और ऐतिहासिक विद्वान् शांतरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें मात्र स्वामी पदोपलक्षित पात्रस्वामीके नामको देखकर उन्हे समन्तभद्र स्वामी होनेकी संभावना कर देते हैं। शांतरक्षितने जब तत्वसंग्रहमें एकही जगह नहीं, अनेकों जगह पात्रस्वामीके नामसे उनके वाक्यों और कारिकाओंको उद्धृत किया है² तब पात्रस्वामी समन्तभद्र स्वामी कैसे संभवित हो सकते हैं? प्रथम तो यह कि दिगम्बर साहित्यमें समन्तभद्र स्वामीसे पात्रस्वामी जुदेही स्वीकार किये गये हैं और दोनोंकी जुदी जुदी कृतियां हैं। दूसरे यदि शांतरक्षित जैसे बहुश्रुत बौद्ध विद्वानकी दृष्टिमें पात्रस्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक होते तो वाचस्पति मिश्रकी तरह आप्तमीमांसाकी कारिकाओंको भी वे उद्धृत करते और उनका खंडन करते। तीसरे शान्तरक्षितने जिन वाक्यों और श्लोकोंको पात्रस्वामीके नामसे उद्धृत किया है वे वाक्य और श्लोक कोई भी समन्तभद्रकी वर्तमान आप्तमीमांसादि कृतियोंमें किसीमें भी नहीं पाये जाते हैं। चौथे शान्तरक्षितने पात्रस्वामीका कहकर जिस 'अन्यथानुपपन्न' वाले श्लोकको उद्धृत करके खंडन किया है और जो पात्रस्वामीके 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक अनुपलब्ध ग्रन्थकाही जान पड़ता है उसे अकलङ्क विद्यानन्दादि जैनाचार्योंने भी पात्रस्वामीकाही स्पष्टतया प्रतिपादन किया है। यदि

१ मालूम पड़ता है कि अकलङ्क ग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमें 'समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच साक्षात् विद्याका सम्बन्ध माननेपर पंडितजीको जब बादमें ऊपर जैसी आपत्तियां मालूम पड़ी हैं तब इसीसे वे न्यायकु० द्वि० भागके प्राक्कथनमें उक्त सम्बन्धको कुछ अस्वीकार भी करते हुये पाये जाते हैं। परन्तु वहां भी 'अगर' जैसे परिशंकादिक शब्दोंका प्रयोग करते हैं जिससे पाठक भ्रममें पड़े बगैर नहीं रह सकते।

२ देखो, तत्वसंग्रह पृ० ४०६, ४१५

समन्तभद्र और पात्रस्वामी एक होते और 'अन्यथानुपपन्नत्व' आपकी दृष्टिमें समन्तभद्रका है तो ये जैनाचार्य भी उसे समन्तभद्रके नामसेही प्रकट करते। किन्तु ऐसा नहीं है, सभीने समन्तभद्रसे पृथक् पात्रस्वामीके नामसेही उसका उल्लेख किया है। ऐसी हालतमें उक्त सम्भावना तत्त्वसंग्रहगत पात्रस्वामी समन्तभद्र हैं किन्तु निराधार और निष्प्रमाणिक जैसी है। ऐसी कच्ची सम्भावनाओंसे स्थायी साहित्यमें ढलने बड़ा भारी हानि हो सकती है। अतः यह साफ है कि तत्त्वसंग्रहगत पात्रस्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक व्यक्ति नहीं हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

४ चौथे कारण के विषयमें मेरा निम्न प्रकार कथन है —

प्रथम तो समन्तभद्र जब दिग्नागके पूर्ववर्ती हैं तो दिग्नागके उत्तरवर्ती धर्मकीर्तिके ग्रन्थमें यदि किसी विषयमें समन्तभद्रके विचारके साथ धर्मकीर्तिका कोई विचार मिलता जुलता पाया जाता है तो वह समन्तभद्रकाही आभारी है—अर्थात् उनकी आप्तमीमांसासेही लिया हुआ वह धर्मकीर्तीय विचार है।

दूसरे धर्मकीर्तिने प्रमाण समुच्चय गत 'प्रमाणभूताय' मंगल पद्यको लेकर प्रमाणवार्तिक या उसके प्रथम परिच्छेद (द्वितीय परिच्छेद ?) की रचनाही नहीं की है। बात यह है कि जैमिनिसूत्र और उसके शाबर भाष्य तथा न्यायसूत्र और उसके वात्स्यायन भाष्यका खण्डन करनेके लिये 'प्रमाणसमुच्चय' आदि प्रकरण-ग्रन्थ रचे थे। बादमें हुये उद्योतकर और भट्ट कुमारिलको जब दिग्नागके उक्त ग्रन्थ मिले और उनमें अपने पूर्वजोंके सिद्धान्तोंका खण्डन देख मिला तो दिग्नागके ग्रन्थों और बौद्ध सिद्धान्तोंका खण्डन करने तथा स्वमत स्थापित करनेके लिये उद्योतकरने 'न्यायवार्तिक' और कुमारिलने 'मीमांसाश्लोक वार्तिक' की रचना की। न्यायवार्तिक जहां गद्यात्मक वार्तिक ग्रन्थ है वहां मीमांसा श्लोक वार्तिक पद्यात्मक वार्तिक ग्रन्थ है। भारतीय दार्शनिक साहित्यमें जहां तक मुझे मालूम है दार्शनिक युगमें वार्तिक ग्रन्थोंकी रचनाका प्रारम्भ प्रायः इन्हीं दोनों वार्तिक ग्रन्थोंसे हुआ है। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिको भी जब ये दोनों वार्तिक ग्रन्थ मिले और उनमें अपने आचार्य दिग्नाग प्रभृतिका खण्डन देखा तो व्याज सहित उक्त बदला चुकानेके लिये धर्मकीर्तिने 'प्रमाणवार्तिक' सटीक पद्यबद्ध ग्रन्थकी रचना की, जो उक्त वार्तिक ग्रन्थोंका अपने नामकरणमें भी पूरा आभारी है। इस तरह धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक' की रचना उद्योतकर और कुमारिलके जवाबके सबब प्रयत्न है न कि प्रमाण समुच्चयके 'प्रमाणभूताय' मंगल पद्यको लेकर मुख्यतः उसकी रचना हुई है। हमारे इस कथनको पुष्टि ईसाकी ९वीं शताब्दी (८४१ ई०) के विद्वान् वाचस्पति मिश्रके न्यायवार्तिक तात्पर्य टीकागत निम्न उल्लेखसे भी हो जाती है। यथा—

'यद्यपि भाष्यकृता (वात्स्यायनेन) कृतव्युत्पादनमेतत् तथापि

कुहेतुसन्तमससमुत्थापनेनाच्छादितं शास्त्रं न तत्वनिर्णयाय पर्याप्तमित्युद्योतकरेण स्वनिबन्धोद्योतेन तदपनीयत इति प्रयोजनवानयमारम्भ इति.—न्या० ता० पृ० २

यहां वाचस्पति मिश्रने स्पष्टतया बतलाया है कि यद्यपि न्यायदर्शनका व्याख्यान भाष्यकार (वात्स्यायन) ने कर दिया था तथापि दिग्नाग आदि अर्वाचीन कुतार्किकोंने उसे कुतर्करूपी अन्धकारसे आच्छादित कर दिया। अतः वह तत्वनिर्णय करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये उनके (दिग्नागादिके) कुहेतुरूप अन्धकारको दूर करने और अपने मतका प्रकाश करनेके लिये उद्योतकरने 'न्यायवार्तिक' का उद्योग किया। इस तरह 'न्यायवार्तिक' की रचना सप्रयोजन है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दिग्नाग प्रतिपादित प्रमाण-समुच्चय गत सिद्धान्तोंका खंडन करनेके लिये 'न्यायवार्तिक' की रचना हुई। इस बातको न्या० प० महेन्द्रकुमारजी भी मानते हैं जैसा कि उनके निम्न शब्दोंसे प्रकट है :—

'इन्होंने (उद्योतकरने) दिग्नागके प्रमाण समुच्चयके खंडनके लिये न्यायवार्तिक बनाया था……।'—न्यायकु० द्वि० भा० प्र० पृ० १२

और इस न्यायवार्तिकका खंडन करनेके लिये ही धर्मकीर्तिने अपना प्रमाण वार्तिक रचा था, यह भी इन दोनों ग्रन्थोंका आभ्यन्तर परीक्षण करनेसे स्पष्टतया मालूम हो जाता है। अतः यह मानना होगा कि धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक या उसके प्रथम परिच्छेद (द्वितीय परिच्छेद ?) की रचना प्रमाण-समुच्चयके मंगल पद्यको लेकर नहीं की, बल्कि उद्योतकरके न्यायवार्तिक और कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकके खण्डनके लिये की थी। नाम साम्य भी बड़े मार्केका है और जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह दूसरी बात है कि दिग्नागके प्रमाण समुच्चय पर प्रहार करनेवाले उद्योतकरके न्यायवार्तिकका सबल जवाब प्रमाणवार्तिकके द्वारा देनेके साथ धर्मकीर्ति ने प्रमाण समुच्चयगत सिद्धान्तों, वाक्यों, मंगलपदों और हेतुओंका भी सयुक्तिक समर्थन किया है और वह उचित एवं स्वाभाविक ही है। दर्शन-युगमें प्रत्येक दार्शनिकने ऐसाही किया है। अपनेसे भिन्न दर्शन और उसके अनुयायिओंके विचारोंकी आलोचना करके अपने दर्शन और पूर्वजोंके विचारोंका सयुक्तिक समर्थन किया है। हो सकता है, किसी विचारमें अपना मतभेद भी प्रकट किया हो। इस तरह जब प्रमाण समुच्चयके मंगल पद्यपर प्रमाणवार्तिक या उसके किसी परिच्छेदके लिखे जानेकी बात नहीं बनती है तब 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस मंगल पद्यको पूज्यपादका कहकर उसपर समन्तभद्रके आप्तमीमांसा लिखनेके विचारके साथ धर्मकीर्तीय विचारकी उपर्युक्त साम्यता कैसे बिठाई जा सकती है ? उपमानकी स्थितिही नहीं तब उपमेयके साथ उसकी संगति बिठाना किसी भी प्रकार संगत नहीं कहा जा सकता। यहां मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि पंडितजी, विद्यानन्दके जिन आधारोंपर

'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' को पूज्यपादका बतलाते थे वह सब आधार सूत्रकार-उमास्वातिका बतलाते हैं[1], इस बातको अनेक प्रमाणोंके साथ 'तत्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक दो लेखों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। अत उसे अब पूज्यपादका बतलाना बड़ा भारी भ्रम है। आश्चर्य है इस भ्रमकी पुनरावृत्ति ज्ञानबिन्दुकी प्रस्तावना पृ० ५५ में भी आपने की है।

इस तरह 'विचार-साम्य' रूप चौथे कारणके एक भागपर विचार करनेके बाद अब मैं दूसरे भाग पर जो शब्द साम्यकी तरह यह कहा जा सकता है कि समन्तभद्रीय है। दूसरे, वह शब्द साम्य भी जैसा होना चाहिये वैसा नहीं है। सुगतको जहां एक जगह धर्मकीर्तिने 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' कहकर युक्ति और आगमसे विचार करनेवाला बतलाया है और दूसरी जगह 'वैफल्याद्वक्ति नानृतम्' के द्वारा मिथ्या भाषण न करनेवाला सत्यभाषी बतलाया है वहां समन्तभद्रने एकही जगह जैन तीर्थंकरको 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' कहकर मात्र यथार्थवक्ता प्रकट किया है—उस धर्मकीर्तिकी तरह विचारक नहीं बतलाया। तीसरे युक्ति और आगम जैसे शब्द तो ऐसे हैं जिनका प्रयोग धर्मकीर्तिसे पहिले भी दृष्टिगोचर होता है। हां, यदि इन शब्दोंके प्रयोगका आद्य पुरस्कर्ता धर्मकीर्तिही होता उसके पहिले बौद्ध या बौद्धेतर साहित्यमें इनका प्रयोग उपलब्ध न होता, तो यह किसी अंशमें मान्य भी था कि धर्मकीर्तिके अमुक शब्दोंको अपनानेके कारण समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। अत शब्द साम्यवाली दलील भी आपत्तियोंसे रहित निरापद नहीं है और इसलिये वह समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें असमर्थ है।"

५ अब रह जाता है पांचवा कारण सो उसके सम्बन्धमें मेरा निम्न प्रकार कहना है। प्रथम तो, यह कोई आवश्यक नहीं है कि कोई उत्तरवर्ती ग्रन्थकार अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारका अपने ग्रन्थोंमें आलोचन एवं खण्डन करे ही। दूसरे, समन्तभद्रके 'द्रव्यपर्याययोरैक्य' तथा 'सहासत्त्वा विरोधात्' इन दो पद्योंका और उनके प्रत्येक शब्दका खण्डन यदि धर्मकीर्तिने नहीं किया, उनके टीकाकार अर्चट (९०० D.A) ने किया है तो इससे समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती सिद्ध नहीं हो जाते और न कहे जा सकते हैं। यदि नागार्जुनके किसी विचार या पद वाक्यका खण्डन अकलङ्कदेवने नहीं किया, उनके टीकाकार विद्यानन्दने किया हो तो क्या नागार्जुन अकलङ्कके उत्तरवर्ती हो जायेंगे? गौतमीय छल, जाति निग्रहस्थानादि सूत्रों और उद्योतकरके अमुक अमुक पद वाक्योंका खण्डन अकलङ्कदेवने नहीं किया है पर

१ विद्यानन्दके उल्लेखोंके अलावा उक्त मंगल श्लोकको सूत्रकार उमास्वामी कृत बतलानेका एक अति स्पष्ट, प्रामाणिक उल्लेख और प्राप्त हुआ है। गोम्मटसार जीवकाण्डकी 'मन्दप्रबोधिनी' नामक संस्कृत बड़ी टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री० अभयचन्द्र (१३ वीं सदी) उक्त मंगलश्लोकको उमास्वामीका बतला कर साथ गृद्धपिच्छाचार्यका स्पष्ट नाम देते हैं। यथा—

'गृद्धपिच्छाचार्यैर्णापि तत्त्वार्थशास्त्रस्यादौ मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिना धर्मामृतमाचारयैव परममङ्गलतया प्रथम कुर्वाणात्'—गो० जी० मं० टी० पृ० २

विद्यानन्दने किया है।[1] इसी तरह भर्तृहरिकी 'आख्यात शब्दः संघातो' और 'पदमाद्य पदश्चान्त्यं' (वाक्यप० २, १, २) इन दो पद्योंका खण्डन अकलङ्कदेवने नहीं किया, उनके उत्तरवर्ती विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने किया है।[2] ऐसी हालतमें आपके तर्कानुसार गौतम, उद्योतकर और भर्तृहरिको भी अकलंकके उत्तरवर्ती होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं है, यह प्रकट है। तीसरे, यह भी संभव है कि समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा शान्तरक्षितकी तरह धर्मकीर्तिको भी उपलब्ध न हुई हो और इसीसे उसने आप्तमीमांसा गत विचारों, पद वाक्योंका खण्डन नहीं किया है। जो ग्रन्थ आजसे कई सौ वर्ष पहिलेके विद्वानोंको नहीं मिल सके वे आज हमें मिल रहे हैं। अतः अनुपलब्धिकी हालतमें धर्मकीर्तिका उक्त पद्योंका खण्डन न करना भी पूर्णतया संभवित है। पांचवें, धर्मकीर्तिने समन्तभद्रकी अन्य दो कारिकाओं ('स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः' और 'सदेव सर्वं को नेच्छेत') का 'प्रमाणवार्तिक' (२-१८२ और १-१८३, १८५) में 'एतेनैव' 'सर्वस्योभयरूपत्वे' और 'सर्वात्मत्वे च सर्वेषां' इन कारिकाओं द्वारा स्पष्टतया खण्डन कियाही है। जिनका जवाब अकलङ्कदेवने 'न्याय-विनिश्चय (का० १७०, ३७१, ३७२, ३७३ और ३७४) में दिया है। यदि समन्तभद्र, धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन या समकालीन होते तो वे निश्चयही धर्मकीर्तिकी इन कारिकाओंका स्वयं जवाब देते और ऐसी हालतमें अकलङ्कको इनका जवाब देनेका अवसर ही न मिलता। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि धर्मकीर्तिने आप्तमीमांसाका खण्डन करनेके लिये उक्त कारिकाओंको चुना। 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' और 'संख्याविशेषाच्च' इन दो पद्योंको नहीं चुना वाचस्पति मिश्रने भी इन कारिकाओंसे भिन्नही दो कारिकाओंको[3] उद्धृत करके खण्डन किया है।[4] सो यह खण्डनका चुनाव स्वयं खण्डन-कारकी दृष्टि पर निर्भर है। अतः यह साफ है कि समन्तभद्रके मात्र उक्त दो पद्योंका धर्मकीर्तिके खण्डन न करने और उसके टीकाकार अर्चटके करनेसे समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती नहीं कहे जा सकते।

इस तरह हम देखते है कि समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिका उत्तरकालीन सिद्ध करनेके लिये जो कारण प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें कोई भी कारण समन्तभद्रको उक्त दोनों विद्वानोंका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। प्रत्युत इस प्रकारसे सिद्धिका प्रयत्न बहुविध आपत्तियोंसे युक्त है।

---

१ देखो, श्लोकवार्तिक १-३२ का 'तत्त्वार्थाधिगम भेद' प्रकरण।

२ देखो, अष्टस० पृ० २८४, न्यायकुमुद पृ० ७३६

३ देखो, आप्तमी० १०२, १०४

४ देखो, भामती पृ० ४८२

स्वप्न और उसका फल

(ले०—श्रीयुत साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिषतीर्थ पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, आरा)

विश्व का प्रत्येक अणु रहस्यमय है। अनादिकाल से आजतक इस रहस्य का उद्घाटन करने के लिये दार्शनिक जगत अनवरत उद्योग करता आ रहा है, तो भी रहस्य की तह में पहुँचनेवाले इने गिने तत्त्वज्ञानी ही हो सके हैं। यथार्थ में ज्ञानोदधि इस तरह गम्भीर है कि इसकी थाह विरले ही लगा पाते हैं, फिर भी अपने अपने ढंग से प्रत्येक विचारक ने सिद्धान्त निर्णय किये हैं। वस्तुतः स्वप्न जगत् भी उनके विवेचन क्षेत्र से पृथक् नहीं है। इसके रहस्य और महत्ता की भी प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिकों ने गहरी खोज की है। यही कारण है कि स्वप्न के विषय में भी दो प्रकार की प्रमुख विचार धाराएँ पाई जाती हैं, जिन्हें हम प्राच्य विचारधारा और पाश्चात्य विचारधारा कहते हैं। यह बात दूसरी है कि इनमें से भी प्रत्येक में कई उपधाराएँ फूट निकली हैं।

प्राच्य दर्शनाचार्यों और पाश्चात्य दर्शनाचार्यों की विवेचन प्रणाली के मूल में यही अन्तर है, कि पहली प्रणाली की नींव आत्मा की अमरता पर है और दूसरी की नींव भौतिकता पर। इससे स्वप्न के आन्तरिक स्वरूप में महान् अन्तर पड़ जाता है। द्वितीय प्रणाली के विचारकों की विचार सीमा बुद्धि तत्त्व तक ही सीमित है, आजतक वे इसके परे पहुँचने में असमर्थ ही रहे हैं, और अनुमान भी यही किया जाता है कि वैज्ञानिक शक्ति आत्मतत्त्व तक पहुँचने में असमर्थ ही रहेगी। इसी भित्ति पर स्थित उनका स्वप्न सम्बन्धी विचार भी अधूरा ही रह गया है, यथार्थतः स्वप्न का सम्बन्ध आत्मा से ही है, जैसा कि प्राच्य आचार्यों ने सुबोध एवं व्यावहारिक ढंग से प्रमाणित कर संसार के सामने उपस्थित किया है। प्राच्य विवेचनानुमोदित आत्मा की अमरता के सिद्धान्त से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि हमारे वर्तमान जीवन का सांस्कारिक सम्बन्ध पूर्व भवों से भी है, इसलिये यह स्वयं सिद्ध है कि स्वप्न पर भी पूर्वभवों के संस्कार शासन करते हैं।

पाश्चात्य जगत में स्वप्न के ऊपर काफी खोज की गई है, अब तक अंग्रेजी में अनुमानतः १०० १५० पुस्तकें इस सम्बन्ध में लिखी जा चुकी हैं। इस छोटे-से लेख में प्रधान प्रधान सिद्धान्तों के दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की जायगी। वैज्ञानिकों ने अधिकांश रूप में स्वप्न के कारणों की खोज की है, इसके फलाफल की नहीं। अरस्तू (Aristotle) कारणों का अन्वेषण करते हुए लिखते हैं कि जागृत अवस्था

उपर्युक्त पंक्तियों में बताया गया है कि रुद्धइच्छा ही स्वप्न में काल्पनिक रूप से परितृप्त होती है। अब यह बतलाना है कि रुद्ध-इच्छा क्या है ? और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? दैनिक कार्यों की आलोचना करने से स्पष्ट है कि हमारे प्रायः सभी कार्य इच्छाकृत होते हैं। किन्हीं-किन्हीं कार्यों मे हमारी इच्छा स्पष्ट रहती है और किन्हीं-किन्हीं में अस्पष्ट एवं रुद्ध-इच्छा रहती है। जैसे गणित करने की आवश्यकता हुई और गणित करने की इच्छा होते ही एक स्थान पर गणित करने के लिये जा बैठे। वहाँ गुणा, भाग, जोड़, घटाव आदि में बहुत-सी क्रियाएँ ऐसी रहेंगी जिनमें इच्छा के अस्तित्व का पता नहीं लगेगा, पर वहाँ हम इच्छाओं के अस्तित्व का अभाव नहीं कह सकते है। ज्ञात और अज्ञात इच्छाओं का पता लगाने के लिये मन का विश्लेषण करना अत्यावश्यक है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इच्छाओं को प्रधान रूप से छः भागों में बाँटा है—(१) स्पष्ट इच्छा—जिन इच्छाओं का अस्तित्वरूप सरलता से जाना जा सकता है। (२) अस्पष्ट-इच्छा—जो इच्छाएँ मन से स्पष्टरूप से उदित नहीं हुई हैं, किन्तु जिनके अस्तित्व मे सन्देह नहीं है और जो ज्ञान के प्रान्त में अवस्थित हैं। (३) अपरिस्फुट—जो उदित नहीं हुई हैं, किन्तु जिनका अस्तित्व सहज में ही जाना जा सकता है। (४) अनुमान-सापेक्ष—जिन इच्छाओं के अस्तित्व का मन के विश्लेषण करने पर भी पता न लगे: कार्य या पहली इच्छा से जिनका अनुमान किया जा सके। (५) इच्छाभास या अविश्वासिक-इच्छा—जिन इच्छाओं का अस्तित्व अनुमान सापेक्ष हो, विश्लेषण से जिनकी प्रकृति का ज्ञान होने पर भी, मन मे उनका होना इतना असंभव जँचता हो जिससे विश्वास भी न किया जा सके। (६) अज्ञात—जो इच्छा इतनी सूक्ष्म हो कि ज्ञान मे भी न लाई जा सके।

किसी-किसी पाश्चात्य दार्शनिक ने इच्छा के चार ही प्रधान भेद बतलाये हैं, इन चारों को अज्ञात-इच्छा के अन्तर्गत रखा जाय तो अनुचित न होगा। (१) संज्ञात—जो इच्छा ज्ञान के अधिकार के भीतर हो। (२) असंज्ञात—चेष्टा द्वारा जहाँ ज्ञान का अधिकार विस्तृत किया जाय। (३) अन्तर्ज्ञात—ज्ञान के अधिकार के बहिर्भूत होते हुए भी जिस इच्छा का मन मे किसी न किसी दिन उठना संभव हो। (४) अज्ञात या निर्ज्ञात—जो इच्छा कभी न उठ सके, जिसका अस्तित्व केवल अनुमान गम्य हो। इच्छा के इस दार्शनिक विश्लेषण से पता लगता है कि स्वप्न मे नाना प्रकार की अज्ञात-इच्छाएँ अपना जाल बिछाती रहती है। इसलिये स्वप्नगत अवदमित-इच्छाएँ सीधे-सादे रूप मे चरितार्थ न होकर ज्ञान के पथ में बाधक होती है। तथा अज्ञात रुद्ध इच्छा ही अनेक प्रकार से मनके प्रहरी को धोखा देकर विकृत अवस्था मे प्रकाशित होती है और अवदमित इच्छाओं के आत्मप्रकाश मे उनकी रुद्ध इच्छाएँ बाधा पहुंचाती हैं—जैसे मरने की इच्छा को जीने की इच्छा पनपने नही देती। जिस समय भी मरने की इच्छा हमारे मन मे प्रकट होने की चेष्टा करती है,

इसी समय जीने की इच्छा प्रकट होकर बाधा पहुँचाती है। फलस्वरूप मरने की इच्छा सीधे मार्ग रूप से मन में न ठहरकर तरह तरह से प्रकाशित होती है। संकट पूर्ण परिस्थिति में स्वप्नदर्शक बहादुरी दिखाने की इच्छा द्वारा मृत्यु की इच्छा का ही रूपान्तर है। इस इच्छा के इस परिवर्तित रूप को देखकर नहीं समझ सकते हैं कि यह यथार्थ में मरने की इच्छा है। यदि इस परिस्थिति में जीने की इच्छा को प्रहरी मान लेते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रहरी के कारण ही मृत्यु इच्छा अपने असली रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी। मृत्यु इच्छा विपत्ति के कार्यों में आत्मोत्सर्ग की इच्छा में छद्मवेश धारण कर लेती है और इस प्रकार इस प्रहरी को सहज में धता बता सकती है। अतः उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्वप्न में अपनी इच्छा विरुद्ध-इच्छा को धोखा देकर नाना रूपकों और उपरूपकों में हमारे सामने आती है।

स्वप्न के अर्थ का विकृत होने का प्रधान कारण अतृप्त इच्छा—जो इच्छा अज्ञात होकर स्वप्न में प्रकाशित होने की चेष्टा करती है प्रहरी को—मन के जो जो भाव इस इच्छा के प्रकाशित होने में बाधा पहुँचाते हैं उनके समष्टि रूप प्रहरी को धोखा देने के लिये छद्मवेश में प्रकाशित होकर शान्त नहीं होती है बल्कि पाखण्डरूप धारण कर के अपने को प्रहरी की नजरों से बचाने की चेष्टा करती है। इस प्रकार नाना इच्छाओं का एक जाल बिछ जाता है इससे स्वप्न का यथार्थ अर्थ विकृत हो जाता है। दृश्य परिस्थिति (Visuabmagery) अभिशान्ति (Displacement), संक्षेपन (Condensation) और नाटकीय परिस्थिति (Dramatization) ये चार अर्थ विकृति के आधार हैं। मन का प्रहरी जितना सजग होगा, स्वप्न भी उतने ही विकृत आकार में प्रकाशित होगा। प्रहरी के कार्य में शिथिलता होने पर स्वप्न की मूल इच्छा अविकृत अवस्था में प्रकाशित होती है। मन का प्रहरी जागृतावस्था में सजग रहता है और निद्रितावस्था में शिथिल। इसी कारण निद्रितावस्था में मन की अपूर्ण इच्छाएँ स्वप्न द्वारा काल्पनिक तृप्ति का साधन पाती हैं।

इसी प्रकार विश्वविश्रुत मनोवैज्ञानिक[1] फ्रायड ने स्वप्न के कारणों की खोज करते हुए बतलाया है कि बहुधा स्वप्न अत्यन्त विकृत रूप में हमारे सामने आते हैं और अर्थहीन जान पड़ते हैं, पर मनोविज्ञान के पण्डित इस अर्थहीनता में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ खोज निकालते हैं। प्रत्येक स्वप्न हमारी किसी आशा या आशंका का रूपक होता है। हमारी गुप्त भावना स्वप्न में यथार्थ रूप से अपने को प्रकट न करके गुप्तवेश में नाना रूपकों के जाल बिछाकर

---

१ (a) फ्रायड—The interpretation of dreams (b) Delusion & dream.
Studies in Dreams by Mary Arnaldforster P 8 to 30
Dreams Scientific & Practical Interpretations by G H Miller P 6 to 24.

व्यक्त होती है। मनुष्य अपने स्वभावगत असमर्थता की क्षति पूर्ति जिन-जिन रूपों में करता है, उसके स्वप्नों की भी गणना उन्हीं में की जा सकती है। क्योंकि स्वप्नों के द्वारा वह अपनी उन इच्छाओं की पूर्ति करता है जिन्हें वह वास्तविक जगत् में पूरा नहीं कर पाता। स्वप्न वास्तव में मनुष्य की अन्तर्भावनाओं के दर्पण होते हैं। किसी मनुष्य के भीतर की सच्ची बात जानने की आवश्यकता हो तो उसके स्वप्नों को जान लेना ही यथेष्ट होगा। एक भारतीय विद्वान्[1] ने एक जगह लिखा है कि मनुष्य के भीतर कमसे कम दो व्यक्तित्व सदा, सब समय वर्तमान रहते हैं। उसका एक व्यक्तित्व उसे अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति के लिये प्रेरित करता है और दूसरा व्यक्तित्व समाज के कड़े नियमों के पालने के लिये उत्कण्ठित रहता है। पहला व्यक्तित्व उसकी अन्तर्भूमि में सोई हुई अवस्था में दबा पड़ा रहता है, पर दूसरा व्यक्तित्व (समाज के शासनचक्र को मानकर चलने वाला व्यक्तित्व) सब जगह जागता रहता है, यहाँ तक कि हमारी निद्रित अवस्था में वह पुलिस के चौकीदार की तरह चौकन्ना रहता है। जब स्वप्न देखते हैं तब हमारे दोनों व्यक्तित्व सचेष्ट रहते हैं। दोनों व्यक्तित्व एक दूसरे पर कड़ी निगाह रखते हैं। पुलिस का काम करने वाला व्यक्तित्व स्वाभाविक इच्छाओं की ओर झुकने वाले व्यक्तित्व को धर पकड़ने के लिये तैयार रहता है, पर दूसरा व्यक्तित्व उस पुलिस प्रहरी को धोखा देकर अपनी सहज इच्छाओं को वेश बदल कर चरितार्थ कर लेता है। यही कारण है कि हमारे स्वप्न हमें अर्थहीन और विचित्र जान पड़ते हैं पर वे वास्तव में अर्थ हीन नहीं होते, बल्कि हमारे भीतर वर्तमान पुलिस प्रहरी को धोखा देने के लिये निराले रूपक-मय रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार हमारे मूल व्यक्तित्व की आकांक्षाएँ पूरी होती हैं। जेम्स[2] एलेन लिखते हैं कि मानव के अन्तस्तल में जो सद् या असद् इच्छाएँ वर्तमान रहती हैं वे स्वप्न में आती हैं। कल्पनाओं के संसार का दूसरा नाम स्वप्न उन्होंने रक्खा है। लिलीने स्वप्न का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिखा हैं कि जितने भी ऊँचे स्वप्न देखने वाले हुए हैं या जिनके ऊँचे मन्तव्य रहे हैं वे संसार के मुक्तिदाता हुए है। स्वप्न मनुष्य की अन्तर्भावनाओं के सच्चे प्रतीक हैं। जी० एच० मिलर सा० ने अपनी Dreams Scientific पुस्तक में लिखा है कि "A dream is an event transpiring in that world belonging to the mind when the objective senses have withdrawn into rest or oblivion.

Than the spiritual man is living alone in the future or ahead of objective life and consequently lives man's future, first developing conditions in a way that enables waking man to shape his actions by warnings, so as to make life a perfect existence". अर्थात् सुषुप्तावस्था में मस्तिष्क का

१ दैनिक जीवन और मनोविज्ञान।

२ Asyns Thinkett P. 18. A, H. Sayce P, 33.

आन्तरिक ससार से सम्बन्ध रहने के कारण व्यक्ति में आध्यात्मिकता अधिक रहती है। इस लिये व्यक्ति का सम्बन्ध वास्तविक अर्थात् बाह्य ससार से न रहकर आन्तरिक ससार म रहता है, अत स्वप्न के द्वारा भावी जीवन की घटनाओं की सूचना मिलती है। स्वप्न स ही मानव जीवन में पूर्णता आती है। अतएव स्वप्नों को भविष्य की सूचना देने वाले मानना चाहिये।

प्राच्यविचार धारा को सुविधा के ख्याल स विचार करने के लिये प्रधानतया तीन भागों में बाँट सकते है—(१) दार्शनिक विचार धारा, (२) आयुर्वेदिक विचार धारा और (३) ज्योतिषिक विचार धारा। दार्शनिक विचार धारा की तीन उपधाराएँ हैं—(१) जैन, (२) बौद्ध और (३) वैदिक।

जैन दर्शन—जैन मान्यता में स्वप्न संचित कर्मों के अनुसार घटित होने वाले शुभाशुभ फल के द्योतक है। स्वप्नशास्त्रों क अध्ययन स स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कर्मबद्ध प्राणी मात्र की क्रियाएँ सासारिक जीवों को उनके भूत और भावी जीवन की सूचना देती है। स्वप्न का अन्तरग कारण ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय के क्षयोपशम के साथ मोहनीय का उदय है। जिस व्यक्ति के जितना अधिक इन कर्मों का क्षयोपशम होगा, उस व्यक्ति के स्वप्नों का फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलेगा। तीव्र कर्मों के उदय वाले व्यक्तियों के स्वप्न निरर्थक एव सारहीन होते हैं, इसका मुख्य कारण यही है कि सुषुप्तावस्था में भी आत्मा तो जागृत ही रहती है केवल इन्द्रियो और मन की शक्ति विश्राम करने के लिये सुषुप्त-सी हो जाती है। जिसके उपर्युक्त कर्मों का क्षयोपशम है उसके क्षयोपशमजन्य इन्द्रिय और मन सम्बन्धी चेतनता या ज्ञानावस्था अधिक रहती है। इसलिये ज्ञान की मात्रा की उज्ज्वलता से निद्रित अवस्था में जो कुछ देखते है, उसका सम्बन्ध हमारे भूत, वर्तमान और भावी जीवन से है। इसी कारण स्वप्नशास्त्रियों ने स्वप्न को भूत, वर्तमान और भविष्य जीवन का द्योतक बतलाया है। पौराणिक अनेक आख्यानों से भी यही सिद्ध होता है कि स्वप्न मानव को उसके भावी जीवन में घटने वाली घटनाओं की सूचना देते है।

बौद्धदर्शन—बौद्ध मान्यता में स्वभावत पदार्थों के क्षणिक होने के कारण सुषुप्तावस्था मे भी क्षण क्षण ध्वसी आत्मा की ज्ञानसन्तान चलती रहती है, पर इस ज्ञानसन्तान का जीवात्मा के ऊपर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है और न पूर्व सचित सस्कार ही वस्तुभूत हैं। इसलिये स्वप्न का फल जीवात्मा से कुछ सम्बन्ध नहा रखता है। केवल शारीरिक विकार के कारण स्वप्न आते है, आत्मा स्वप्न स पृथक् रहती है। बौद्ध ग्रन्थो के पौराणिक आख्यानों में कुछ स्वप्न सम्बन्धी कथायें अवश्य मिलती हैं, पर दार्शनिकों ने स्वप्न के सम्बन्ध में विचार नहीं किया है।

वैदिक दर्शन—इस मान्यता में प्रधानतः अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत ये तीन दार्शनिक सिद्धान्त हैं, अवान्तर विचार धाराएँ इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

अद्वैत दर्शन—इस मान्यता में पूर्व और वर्तमान संचित संस्कारों के कारण जागृत अवस्था में जिन इच्छाओं की पूर्त्ति नहीं होती हैं, स्वप्नावस्था में उन्ही इच्छाओं की पूर्त्ति बताई गई हैं। स्वप्न आने का प्रधान कारण अविद्या है, इसलिये स्वप्न का सम्बन्ध अविद्या सम्बद्ध जीवात्मा से है, परमब्रह्म से नहीं। स्वप्न के फल का प्रभाव जीवात्मा के ऊपर पड़ता है, पर यह फल भी मायारूप भ्रान्त है।

द्वैत दर्शन—इस दर्शन मे पुरुष प्रकृति के सम्बन्ध के कारण विकृतावस्था को धारण कर लेता है। इस विकृत पुरुष मे ही जन्म-जन्मान्तर के संस्कार संचित रहते हैं। पूर्व तथा वर्तमान जन्म के संस्कारो के कारण विकृत पुरुष स्वप्न देखता है। अतः स्वप्न का सम्बन्ध निर्लेपी पुरुष से न होकर प्रकृति मिश्रित पुरुष के भूत, वर्तमान और भावी जीवन से है।

विशिष्टाद्वैत—इस मान्यता मे बताया गया है कि संचित, प्रारब्ध, काम्य और निषिद्ध इन चार प्रकार के कर्मों में से सचित और प्रारब्ध कर्मों के अनुसार प्राणियो को स्वप्न आते हैं। स्वप्न का सम्बन्ध ब्रह्म के अंशभूत जीव से है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार प्राणी संचित कर्मों का फल भी स्वप्न मे भोग सकता है। पौराणिक आख्यानों में महाराज सत्य हरिश्चन्द्र का उदाहरण भी इसी प्रकार का है, जिन्होंने स्वप्न में अनेक भावो के संचित "डोम के यहाँ विक्रय होने के" फल को प्राप्त कर लिया था।

आयुर्वेदिक विचार धारा[1]—इस मान्यता के अनुसार मन के वहने वाली नाड़ियों के छिद्र जिस समय अति बली तीनों दोषों से (वात, पित्त और कफ) परिपूर्ण हो जाते है उस समय प्राणियों को शुभ और अशुभ स्वप्न आते हैं। जिस समय प्राणी न अत्यन्त सोता है और न जागता हो, अर्थात अर्द्ध निद्रित अवस्था में इन्द्रियों के अधिपति मन के द्वारा सफल और निष्फल अनेक प्रकार के स्वप्न देखता है। इस मान्यता में बताया गया है कि व्यक्तियों को नाना प्रकार के रोगों की स्वप्न द्वारा चेतावनी दी जाती है। चरक और सुश्रुत के आधार पर से कुछ का उल्लेख किया जाता है।

जो मनुष्य स्वप्न में कुत्ता, ऊँट और गधे पर चढ़ कर दक्षिण दिशा को जाता है, उसको राजयक्ष्मा; जो स्वप्न मे लाख और लाल वस्त्र के समान आकाश को देखता है, उसे रक्त-पित्त; जिसे स्वप्न मे शूल रोग, अफरा, आँतों का रोग, अत्यन्त दुर्बलता का अनुभव हो

१ मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः
स्रोतसां दारुणान्स्वप्नान्काले पश्यत्यदारुणान्
विशेष जानने के लिये देखो—वाग्भट्ट शारीर स्थान ६वाँ अध्याय

और नखों का रंग विकृत मालूम हो उसे गुल्म, जो स्वप्न में शरीर में घाव देखे, नग्न हो घृत लगावे, ज्वाला रहित अग्नि में हवन करे और हृदय में कमल प्रकट हुआ देखे, उसे कुष्ठरोग, जो स्वप्न में चाण्डाल, चमार आदि नीच वर्ण वाले व्यक्तियों के साथ घृत, तेल आदि स्निग्ध पदार्थों का पान करे, उसे मधु मेह, जो स्वप्न में अनेक व्यक्तियों सहित नाचता हुआ जल में निमग्न होता देखे, उसे उन्माद, स्वप्न में कुत्ते से प्रेम करते हुए देखने से ज्वर, राक्षसों के साथ प्रीति करते हुए देखने से अपस्मार, बन्दरों के साथ प्रीति करते हुए देखने से गुल्म रोग, स्वप्न में चने की तिल मिली पूरी खाने से मस्तक और छर्दि रोग, स्वप्न में मार्ग चलता हुआ देखने से श्वास, स्वप्न में हल्दी मिले पदार्थ का सेवन करता हुआ देखने से पाण्डु रोग और स्वप्न में लाल तथा काले वस्त्रवाली स्त्री के साथ वार्त्तालाप करने से भयानक रोग होते हैं। वाग्भट्ट ने बताया है कि जिस मनुष्य की वात प्रकृति होती है, वह स्वप्न में आकाश में भ्रमण करना, उड़ना तथा काले रंग की वस्तुओं को और प्रचण्ड-पवन आँधी आदि देखता है। पित्ताधिक प्रकृति वाला सोने या रत्नों की मालाओं, सूर्य, अग्नि और बिजली आदि प्रकाशमान पदार्थों को देखता है। कफाधिक प्रकृतिवाला चन्द्रमा, नक्षत्र, श्वेत पुष्प और नदी, तालाब आदि को देखता है। अपनी अपनी प्रकृति के अनुकूल देखे गये स्वप्न निरर्थक होते हैं अर्थात् वाताधिक प्रकृतिवाला आकाश में उड़ना देखे या वात प्रकृति सम्बन्धी अन्य स्वप्नों को देखे तो ऐसे स्वप्नों का फल नहीं होता है।

ज्योतिषिक विचारधारा—स्वप्न जैन ज्योतिष में निमित्त शास्त्र अपना विशेष स्थान रखता है। जहाँ जैनाचार्यों ने जीवन में घटनेवाली अनेक घटनाओं के इष्टानिष्ट कारणों का विश्लेषण किया है, वहाँ स्वप्न के द्वारा भावी जीवन की उन्नति और अवनति का विश्लेषण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढंग से किया है। यों तो प्राचीन वैदिक धर्मावलम्बी ज्योतिषशास्त्रियों ने भी इस विषय पर पर्याप्त लिखा है, पर जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्वप्न शास्त्र में कई विशेषताएँ हैं। वैदिक ज्योतिषशास्त्रियों ने ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना है, इसलिये स्वप्न को भी ईश्वरकी प्रेरित इच्छाओं का फल बताया है। वाराहमिहिर, बृहस्पति और पौलस्त्य आदि विख्यात गणकों ने ईश्वर की प्रेरणा को ही स्वप्न में प्रधान कारण बताया है। फलाफल का विवेचन जैनाजैन ज्योतिषशास्त्र में दश-पाँच स्थलों को छोड़ कर प्रायः समान ही है।

जैन स्वप्न शास्त्र[1] में प्रधानतया निम्न सात प्रकार के स्वप्न बताये गये हैं। (१) दृष्ट जो कुछ जागृत अवस्था में देखा हो उसी को स्वप्नावस्था में देखा जाय, (२) श्रुत—सोने के

1. विशेष जानने के लिये देखो—
भद्रबाहु निमित्तशास्त्र का स्वप्नाध्याय और केवलज्ञानहोरा का स्वप्न प्रकरण।

पहले कभी किसी से सुना हो उसी को स्वप्नावस्था मे देखा जाय; (३) अनुभूत—जिसका जागृतावस्था में किसी भाँति अनुभव किया हो, उसी को स्वप्न में देखे; (४) प्रार्थित—जिनकी जागृतावस्था में प्रार्थना—इच्छा की हो उसी को स्वप्न में देखे; (५) कल्पित—जिसकी जागृतावस्था में कभी भी कल्पना की गई हो उसी को स्वप्न में देखे; (६) भाविक—जो कभी न तो देखा गया हो और न सुना हो, पर जो भविष्य में होने वाला हो उसे स्वप्न में देखा जाय और (७) दोषज—वात, पित्त और कफ इनके विकृत हो जाने से देखा जाय। इन सात प्रकार के स्वप्नों में से पहले के पाँच प्रकार के स्वप्न प्रायः निष्फल होते हैं, वस्तुतः भाविक स्वप्न का फल ही सत्य होता है।

रात्रि के प्रहर के अनुसार स्वप्न का फल—रात्रि के पहले प्रहर में देखे गये स्वप्न एक वर्ष में; दूसरे प्रहर में देखे गये स्वप्न आठ महीने में (चन्द्रसेन मुनि के मत से ७ महीने में); तीसरे प्रहर में देखे गये स्वप्न तीन महीने में; चौथे प्रहर में देखे गये स्वप्न एक महीने में (वराहमिहिर के मत से १६ दिन में); ब्राह्म मुहूर्त्त (उषाकाल) में देखे गये स्वप्न दस दिन में और प्रातःकाल सूर्योदय से कुछ पूर्व देखे गये स्वप्न अति शीघ्र शुभाशुभ फल देते हैं।

अब जैनाजैन ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर कुछ स्वप्नों का फल नीचे उद्धृत किया जाता है—

अगुरु—जैनाचार्य भद्रबाहु के मत से—काले रंग का अगुरु देखने से निःसन्देह अर्थलाभ होता है। जैनाचार्य चन्द्रसेन मुनि के मत से सुख मिलता है। वराहमिहिर के मत से धन लाभ के साथ स्त्री लाभ भी होता है। बृहस्पति के मत से—इष्ट मित्रों के दर्शन, और आचार्य मयूख एवं दैवज्ञवर्य गणपति के मत से अर्थ लाभ के लिये विदेश गमन होता है।

अग्नि—जैनाचार्य चन्द्रसेन मुनि के मत से धूम युक्त अग्नि देखने से उत्तमकान्ति, वराहमिहिर और मार्कण्डेय के मत से प्रज्वलित अग्नि देखने से कार्य सिद्धि; दैवज्ञ गणपति के मत से अग्नि भक्षण करना देखने से भूमि लाभ के साथ स्त्री रत्न की प्राप्ति और बृहस्पति के मत से जाज्वल्यमान अग्नि देखने से कल्याण होता है।

अग्निदग्ध—जो मनुष्य आसन, शय्या, यान और वाहन पर स्वयं स्थित होकर अपने शरीर को अग्निदग्ध होते देखे (मतान्तर से अन्य को जलता हुआ देखे और तत्क्षण जाग उठे तो उसे धन-धान्य की प्राप्ति होती है। अग्नि मे जलकर मृत्यु देखने से रोगी पुरुष की मृत्यु और स्वस्थ पुरुष बीमार होता है। गृह अथवा दूसरी वस्तु को जलते हुए देखना शुभ है। वराहमिहिर के मत से अग्नि लाभ भी शुभ है।

अन्न—अन्न देखने से अर्थ लाभ और सन्तान की प्राप्ति होती है। आचार्य चन्द्रसेन के मत से श्वेत अन्न देखने से इष्ट मित्रों की प्राप्ति; लाल अन्न देखने से रोग; पीला अनाज देखने से हर्ष और कृष्ण अनाज देखने से मृत्यु होती है।

अलङ्कार—अलंकार देखना शुभ है, पर पहनना कष्ट प्रद होता है।

अस्त्र—अस्त्र देखना शुभ फल प्रद, अस्त्र द्वारा शरीर में साधारण चोट लगना तथा अस्त्र लेकर दूसरे का सामना करना विजय प्रद होता है।

अनुलेपन—श्वेत रंग की वस्तुओं का अनुलेपन शुभ फल देने वाला होता है। वराह मिहिर के मत से लाल रंग के गन्ध, चन्दन और पुष्पमाला आदि के द्वारा अपने को शोभाय मान देखे तो शीघ्र मृत्यु होती है।

अन्धकार—अन्धकार मय स्थानों में वन भूमि, गुफा और सुरंग आदि स्थानों में प्रवेश करते हुए देखना रोग सूचक है।

आकाश—भद्रबाहु स्वामी के मत से निर्मल आकाश देखना शुभ फल प्रद, लाल वर्ण की आभा वाला आकाश देखना कष्ट प्रद और नील वर्ण का आकाश देखना मनोरथ सिद्ध करने वाला होता है।

आरोहण—वृष, गाय, हाथी, मन्दिर, वृक्ष प्रासाद और पर्वत के ऊपर स्वयं आरोहण करते हुए देखना या दूसरे को आरोहित (चढ़ा हुआ) देखना अर्थ लाभ सूचक है।

कपास—कपास देखने से स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण होता है और रोगी की मृत्यु होती है। दूसरे को देते हुए कपास देखना शुभ फल प्रद है।

कबन्ध—नाचते हुए छिन्न कबन्ध देखने से आधि, व्याधि और धन नाश होता है। वराहमिहिर के मत से मृत्यु होती है।

कलश—कलश देखने से धन, आरोग्य और पुत्र की प्राप्ति होती है। कलशी देखने से गृह में कन्या उत्पन्न होती है।

कलह—कलह एवं लड़ाई झगड़े देखने से स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण होता है और रोगी की मृत्यु होती है।

काक—स्वप्न में काक, गिद्ध, उल्लू और कुक्कुर जिसे चारों ओर से घेरकर मांस भक्षण करे तो मृत्यु और अन्य का मांस भक्षण करते हुए देखे तो अन्य की मृत्यु होती है।

कुमारी—कुमारी कन्या को देखने से अर्थ लाभ एवं सन्तान की प्राप्ति होती है। वराह मिहिर के मत से कुमारी कन्या के साथ आलिंगन करना देखने से कष्ट एवं धन नाश होता है।

कूप—गन्दे जल से भरे कुए (कूआ) के अन्दर गिरना या डूबना देखने से स्वस्थ व्यक्ति रोगी और रोगी की मृत्यु होती है। तालाब या नदी में प्रवेश करना देखने से रोगी का मरण तुल्य कष्ट होता है।

क्षौर[1]—नाई के द्वारा स्वयं बाल कटवाना या दूसरे का क्षौर (हजामत) करना देखने से कष्ट के साथ-साथ धन और पुत्र का नाश होता है। गणपति दैवज्ञ के मत से माता-पिता की

१ विशेष जानने के लिए देखो—मुहूर्तदर्शन का ४७वाँ प्रकरण।

नृत्य—स्वप्न में स्वयं का नृत्य करना देखने से रोग और दूसरे को नृत्य करता हुआ देखने से अपमान होता है। वराहमिहिर के मत से—नृत्य का किसी भी रूप में देखना अशुभ सूचक है।

पक्वान—स्वप्न में पक्वान कहीं से प्राप्त कर भक्षण करता हुआ देखे तो रोगी की मृत्यु हो और स्वस्थ व्यक्ति बीमार हो। स्वप्न में पूरी, कचौरी, मालपुआ और मिष्टान्न खाना देखने से शीघ्र मृत्यु होती है।

फल—स्वप्न में फल देखने से धन की प्राप्ति फल खाना देखने से रोग एवं सन्तान नाश और फल का अपहरण करना देखने से चोरी एवं मृत्यु आदि अनिष्ट फलों की प्राप्ति होती है।

फूल—स्वप्न में श्वेत पुष्पों का प्राप्त होना देखने से धन लाभ, रक्तवर्ण के पुष्पों का प्राप्त होना देखने से रोग; पीतवर्ण के पुष्पों का प्राप्त होना देखने से यश एवं धन लाभ; हरितवर्ण के पुष्पों का प्राप्त होना देखने से इष्ट-मित्रों का मिलन और कृष्णवर्ण के पुष्प देखने से मृत्यु होती है।

भूकम्प[1]—भूकम्प होना देखने रोगी की मृत्यु और स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण होता है। चन्द्रसेन मुनि के मत से—स्वप्न में भूकम्प देखने से राजा का मरण होता है। भद्रबाहु स्वामी के मत से—स्वप्न मे भूकम्प होना देखने से राज्य विनाश के साथ देश में बड़ा भारी उपद्रव होता है।

मल-मूत्र—स्वप्न में मल-मूत्र का शरीर मे लग जाना देखने से धन प्राप्ति; भक्षण करना देखने से सुख और स्पर्श करना देखने से सम्मान मिलता है।

मृत्यु—स्वप्न मे किसी की मृत्यु देखने से शुभ होता है और जिसकी मृत्यु देखते हैं वह दीर्घजीवी होता है, परन्तु अन्य दुःखद घटनाएँ सुनने को मिलती हैं।

यव—स्वप्न में जौ देखने से घर में पूजा, होम और अन्य माङ्गलिक कार्य होते हैं।

युद्ध—स्वप्न मे युद्ध मे विजय देखने से शुभ, पराजय देखने से अशुभ और युद्ध सम्बन्धी वस्तुओं को देखने से चिन्ता होती है।

रुधिर—स्वप्न में शरीर मे से रुधिर निकलना देखने से धन-धान्य की प्राप्ति; रुधिर से अभिषेक करता हुआ देखने से सुख; स्नान देखने से अर्थ लाभ और रुधिर पान करना देखने से विद्या लाभ एवं अर्थ लाभ होता है।

लता—स्वप्न में कण्टकवाली लता देखने से गुल्म रोग; साधारण फल-फूल सहित लता देखने से नृप दर्शन और लता के साथ क्रीड़ा करने से रोग होता है।

लोहा—स्वप्न में लोहा देखने अनिष्ट और लोहा या लोहे से निर्मित वस्तुओं के प्राप्त करने से आधि, व्याधि और मृत्यु होती है। —क्रमशः

१ विशेष जानने के लिये देखो—
देवीपुराण का २२वाँ अध्याय और कालिकापुराण का ८७वाँ अध्याय।

वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकाल आदि का विचार

लें०—श्रीयुत् पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री सम्पादक 'जयधवला' बनारस

(१) सामान्य परिचय

दिगम्बर सम्प्रदाय में 'तिलोयपण्णत्ति' को ऊँचा स्थान प्राप्त है। इसका परिमाण आठ हजार[1] श्लोक है यह इसके अन्त में आई हुई एक गाथा से जाना जाता है। भाषा प्राकृत है। ग्रन्थ का बहुभाग गाथाबद्ध और कुछ भाग गद्य में है। इसमें सामान्य[2] लोक, नारक लोक, भवनवासी लोक, मनुष्य लोक, तिर्यंच लोक, व्यन्तर लोक, ज्योतिर्लोक, कल्पवासी लोक और सिद्धलोक ये नौ महाधिकार हैं। तथा प्रत्येक अधिकार के भीतर छोटे छोटे और भी अनेक अधिकार हैं। इसका विषय अधिकारों के नामों से ही स्पष्ट है। आशय यह है कि इस ग्रन्थ में सामान्य लोकका आकार, उसका परिमाण, लोकके भेद, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी और देवों के निवास स्थान आदि का विस्तार से कथन किया है। इसका एक भाग सोलापुर से प्रकाशित हो चुका है। सम्पादक डा० ए० एन० उपाध्ये, कोल्हापुर और प्रो० हीरालालजी अमरावती हैं। इसमें प्रारम्भ के चार अधिकार प्रकाशित हुए हैं। शेष पाँच अधिकार अभी प्रकाशित होने हैं।

(२) रचनाकाल

मनुष्य लोक नामक चौथे महाधिकार में मनुष्यों का निवास स्थान, उनके भेद, आदि का जिस प्रकार विचार किया है उसी प्रकार इसमें भगवान महावीर के पश्चात् की आचार्य परम्परा और उनके काल का तथा राज्यकाल गणना का भी उल्लेख किया है। राज्यकाल गणना का उल्लेख करते हुए उसमें बतलाया है कि जिस समय[3] वीर जिनेन्द्र ने मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त किया उसी समय अवन्ति के पुत्र पालक का अभिषेक हुआ। पालक ने साठ

---

1 चुण्णिसरूवत्थकरणसरूवपमाण होदि किं जं तं।
अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए॥

2 देखो तिलोयपण्णत्ति प्रथम अधिकार गाथा ८८, ८९।

3 देखो तिलोयपण्णत्ति चतुर्थ अधिकार गाथा १५०५ से १५१४ तक।

नोट—हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस में ३१ दिसम्बर तथा १ और २ जनवरी सन् ४१ को प्राच्य-विद्या-परिषद् का अधिवेशन हुआ था। उसके [illegible] और जैन 'दर्शन' के [illegible] प्रो० हीरालालजी एम० ए०, [illegible] था। उसी में यह लेख पढ़ा गया था। —सं०

वर्ष तक राज्य किया। अनन्तर १५५ वर्ष तक विजय वंश के राजाओं ने, ४० वर्ष तक मौर्य वंश के राजाओं ने, ३० वर्ष तक पुष्यमित्र ने, ६० वर्ष तक वसुमित्र और अग्निमित्र ने, १०० वर्ष तक गन्धर्व राजाओं ने, और ४० वर्ष तक नरवाहन ने राज्य किया। उसके बाद भृत्यान्ध्र राजा हुए। उनका राज्यकाल २४२ वर्ष होता है। तदनन्तर २३१ वर्ष तक गुप्तों का राज्य रहा। इसके बाद इन्द्रपुत्र कल्की हुआ। उसका नाम चतुर्मुख था और आयु ७० वर्ष थी। उसने ४२ वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार इन सब राज्य कालोंका जोड ६०+१५५+४०+३०+६०+१००+४०+२४२+२३१+४२ =१००० वर्ष होता है। इसके बाद कल्कि के पुत्र अजितंजय ने दो वर्ष तक धर्म राज्य किया इसका उल्लेख किया है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति में आये हुए इस उल्लेख परसे अन्य सभी विद्वानों का मत है कि तिलोयपएणत्ति की रचना[1] श० सं० ४०० के करीब हुई होगी। यदि इसके बहुत काल बाद हुई होती तो उसमें अजितंजय के बाद के अन्य राजाओं का भी उल्लेख किया जाता।

किन्तु इसका सूक्ष्म निरीक्षण करने से जो अन्य ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है उस पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका रचनाकाल ९ वीं शताब्दी के पहले का किसी भी हालत में नहीं हो सकता। अब आगे इसके निरीक्षण से निष्पन्न हुए परिणामों का क्रमवार निर्देश करते हैं—

(१) आचार्य वीरसेन वि० ९ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इन्होंने षट्खण्डागम पर ७० हजार श्लोक प्रमाण और कसायपाहुड पर ६० हजार श्लोक प्रमाण धवला और जयधवला टीका लिखी है। जयधवला टीका पूरी होने के पहले ही वे दिवगत हो गये थे अतः इसे इनके पट्टशिष्य आचार्य जिनसेन ने पूरा किया है। इन दोनों टीकाओं में प्रचुरमात्रा में ऐतिहासिक सामग्री विद्यमान है। उन्होंने इन टीका ग्रन्थों में जो अपने काल तक के विविध आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है उन मत भेदों से भी मालूम पड़ता है कि उनके काल तक किस विषय का कितना साहित्य पाया जाता था। उन्होंने भी स्वयं उसमें क्या सुधार किया, तथा ऐसा करने के लिये उनके पास आधार क्या था। जीवट्ठाण क्षेत्रानुयोगद्वार की धवला टीका में पृष्ठ १२ से लेकर लोक के आकार और परिमाण के विषय में उन्होंने इसी प्रकार के एक मतभेद का उल्लेख किया है जिससे प्रकृत तिलोयपएणत्ति के रचनाकाल के निर्णय करने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

उसे देखने से मालूम पड़ता है कि उनके काल तक उपमा लोक के प्रमाण से पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का प्रमाण भिन्न माना जाता था। उसकी पुष्टि राजवार्तिक से

१ जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ८।

भी होती है। वहां पहले अध्याय के २० वें सूत्र की टीका करते हुए पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का स्पष्ट निर्देश किया है। यथा—

'अथ लोकमूले दिग्विदिक्षु विष्कम्भ सप्त रज्जव, तिर्यग्लोके रज्जुरेका, ब्रह्मलोके पञ्च पुनर्लोकाग्रे रज्जुरेका। मध्यलोकादधो रज्जुमवगाह्य शर्करान्ते अष्टास्वपि दिग्विदिक्षु विष्कम्भ रज्जुरेका रज्जवश्च षट् सप्तभागा।' इत्यादि

अर्थ—दिशाओं और विदिशाओं में लोक का विस्तार नीचे लोक के मूल में सात राजु, तिर्यग्लोक में एक राजु, ब्रह्म लोक के अन्त में पांच राजु और लोकाग्र में एक राजु है। तथा मध्यलोक से नीचे एक राजु जाने पर शर्करा पृथिवी के अन्त में आठों ही दिशा और विदिशाओं में लोक का विस्तार एक राजु और एक राजु के सात भागों में से छह भाग प्रमाण है, आदि।

राजवार्तिक का यह उल्लेख इतना स्पष्ट है जिससे वर्तमानमें लोक को उत्तर और दक्षिण में जो सर्वत्र सात राजु मानते हैं तथा जिसकी वीरसेन स्वामी ने स्थापना की है उसका खण्डन तो हो ही जाता है साथ ही अन्य आचार्यों के द्वारा माने गये जिस लोक का वीरसेन स्वामी ने खण्डन किया है उसकी सिद्धि भी हो जाती है।

वीरसेन स्वामी ने जिस लोक की सिद्धि की है उसमें राजवार्तिक में बताये गये लोक में निम्न प्रकार से अन्तर है—

वीरसेन स्वामी का बतलाया हुआ लोक अधोलोक के मूल में सात राजु तो है पर वह चारों दिशाओं में ही सात राजु है विदिशाओं में नहीं, इसलिये इसका आकार चौकोर हुआ। राजवार्तिक में बतलाया हुआ लोक भी अधोलोक के मूल में सात राजु है पर वह आठों दिशा और विदिशाओं में सात राजु है, अत इसका आकार गोल हुआ। आगे वीरसेन स्वामी का बतलाया हुआ लोक पूर्व और पश्चिम दिशा में क्रम से घटकर मध्यलोक के पास एक राजु रह जाता है पर वह उत्तर और दक्षिण दिशा में नहीं घटता किन्तु उत्तर और दक्षिण दिशा में सर्वत्र सात राजु रहता है। किन्तु राजवार्तिक में बतलाया हुआ लोक आठों दिशा और विदिशाओं में घटता हुआ मध्यलोक के पास आठों दिशा और विदिशाओं में एक राजु रह जाता है। इसी प्रकार मध्यलोक से ऊर्ध्वलोक तक जानना चाहिये। इनमें से वीरसेन स्वामी के द्वारा बतलाये हुए लोक का घनफल ३४३ घनराजु होता है। फिर भी राजवार्तिककार ने इस पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का आकारमात्र दिया है उसका घनफल नहीं दिया।

यह तो राजवार्तिक में बतलाया गया पांच द्रव्यों का आधारभूत लोक हुआ। आगे हम राजवार्तिक के आधार से उपमालोक का निर्देश करते हैं जो तीसरे अध्याय के ३८ वें सूत्र की व्याख्या में आठ उपमा प्रमाणों का वर्णन करते समय बतलाया है। वह उल्लेख इस प्रकार है—

'ततोऽसंख्येयान् खण्डानपनीयासंख्येयमेकं भागं बुद्ध्या विरलीकृत्य एकैकस्मिन् घनांगुलं दत्वा परस्परेण गुणिता जगच्छ्रेणी। सापरया जगच्छ्रेण्या अभ्यस्ता प्रतरलोकः। स एवापरया जगच्छ्रेण्या संवर्गितो घनलोकः।'

अर्थ—अद्धापल्य के असंख्यात खण्ड करे। उनमेंसे असंख्यात बहुभाग खण्ड अलग रख दे और असंख्यात एक भाग प्रमाण खण्डों का बुद्धि से विरलन कर के विरलित राशि के प्रत्येक एक एक पर घनांगुल को दे दे और उनका परस्पर में गुणा कर ले। इस प्रकार जो राशि उत्पन्न होगी उतना जगच्छ्रेणी का प्रयाण होता है। तथा इसका वर्ग जगप्रतर और घन घनलोक है।

चालु मान्यता के अनुसार जगश्रेणी का प्रमाण राजु है अतः घनलोक का प्रमाण ३४३ घनराजु होगा। यह उपमालोक है। इसके द्वारा अन्य जीवादि पदार्थों की संख्या, वर्तमान निवास आदि जाना जाता है।

राजवार्तिक के उपर्युक्त दो उल्लेखों से यह बात भली भांति समझ में आ जाती है कि वीरसेन स्वामी के समय तक जैन आचार्य उपमा लोक से पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को भिन्न मानते थे।

श्वेताम्बर[1] परम्परा में उपमालोक का निर्देश हमारे देखने में नहीं आया। हां, पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का निर्देश सभी श्वेताम्बर साहित्य में किया है। वहां उसका आकार राजवार्तिक के समान बतलाया है। पर उसका घनफल ३४३ घनराजु बिठाने का प्रयत्न किया गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वीरसेन स्वामी ने इन दोनों लोकों की मान्यताओं को अबाधित क्यों नहीं चलने दिया। उनके सामने ऐसी कौन सी कठिनाई आ खड़ी हुई जिसके कारण उन्होंने उपमालोक और पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को एक सिद्ध किया और उपमालोक के प्रमाण को मुख्यता दी।

यह हम ऊपर ही लिख आये हैं कि जीवादि पदार्थों की संख्या आदि का ज्ञान कराने के लिये उपमालोक का उपयोग किया जाता है। अब यदि पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को ऊपर बतलाये गये अनुसार उपमालोक के संख्यातवें भाग प्रमाण मान लेते हैं तो लोकपूरण समुद्धात को प्राप्त हुए केवली का क्षेत्र जो सब लोक बतलाया है वह नहीं बनता है क्योंकि यहां सब लोक का कथन उपमालोक से हुआ पर पांच द्रव्यों का आधार-

---

१ 'चउदसरज्जू लोओ बुद्धिकाओ होइ सत्तरज्जुघणो।' पञ्चमकर्मग्रन्थ, गा० ९७। 'चतुर्दश रज्जवोथस्य सचतुर्दशरज्जुः,××उच्छ्रयमानमिदमस्य। अधस्तादेशोनसप्तरज्जुविस्तरः, तिर्यग्लोक-मध्ये एकरज्जुविस्तरः, ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुविस्तीर्णः, उपरि तु लोकान्ते एकरज्जुविस्तृतः शेषस्थानेषु पुनःकोऽपि कियानस्य विस्तर इति। तदेवंरूपो लोकः बुद्धिकृतः × × × सप्तरज्जु-घनः। स चेत्थं—' टीका।

भुवनलोक उतना बडा है नहीं। वह तो उसके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। पर लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त हुआ केवली पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक के बाहर अपना आत्मप्रदेश फैला नहीं सकता है, क्योंकि आगे धर्मद्रव्य नहीं है। अत पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को यदि उपमालोक के समान नहीं मानते हैं तो 'लोगपूरणगदो केवली केवडि खेत्ते ? सव्वलोगे'[1] यह या इस प्रकार के और दूसरे आगम वचन निरर्थक हो जाते हैं। यह वह कठिनाई है जो वीरसेन स्वामी के सामने उपस्थित थी। इस कारण उन्होंने उक्त दोनों लोकों की मान्यताओं को आगे नहीं पनपने दिया तथा उपमालोक के प्रमाण को मुख्य माना।

वीरसेन स्वामी ने अपने इस मत की पुष्टि के लिये जिन प्राचीन दो गाथाओं का उल्लेख किया वे उनके मत से प्रतर समुद्घात को प्राप्त केवली के क्षेत्र की सिद्धि के लिये आयी हैं। वे इस प्रकार हैं—

'मुहतलसमासअद्धं[2] वुस्सेधगुणं गुणं च वेधेण।
घणगणिदं जाणेज्जो वेत्तासणसंठिए खेत्ते ॥१॥
मूलं मज्झेण गुणं मुहसहिदद्धमुस्सेधकदिगुणिदं।
घणगणिदं जाणेज्जो मुइंगसंठाणखेत्तम्मि ॥२॥'

अर्थ—'मुख और तल के प्रमाण को जोडकर आधा करो। पुन उसका उत्सेध से गुणा कर के मोटाई से गुणा करो। इस प्रकार वेत्रासन के आकारवाले अधोलोक का घनफल उत्पन्न होता है, जिसे जानो ॥१॥

मूल के प्रमाण को मध्यके प्रमाण में जोडो या मध्य के प्रमाण में मुख का प्रमाण जोडो पुन इसे आधा कर के ऊँचाई के वर्ग से गुणा करो। ऐसा करने पर मृदंग के आकारवाले क्षेत्र का घनफल प्राप्त होता है, जिसे जानो ॥२॥

उपर्युक्त दो गाथाओं में जहां वेत्रासन और मृदंग संस्थानवाले लोक के घनफल के निकालने की विधि दी है वहां उससे लोक के आकार का भी परिज्ञान हो जाता है। इन दो गाथाओं से लोक के उसी आकार और प्रमाण की पुष्टि होती जिसकी वीरसेन स्वामी ने सिद्धि की है।

इस प्रकार इनके विवेचन से यह निश्चित हो जाता है कि वीरसेन स्वामी के सामने राजवार्तिक आदि में बतलाये गये आकार के विरुद्ध लोक के आकार के सिद्धि करने के लिये केवल उपर्युक्त दो गाथाएं ही थीं। इन्हीं के आधार से वे लोक के आकार को भिन्न प्रकार से सिद्ध कर सके तथा यह भी कहने में समर्थ हुए कि 'जिन'[3] ग्रन्थों में

१ धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० १२।
२ धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृष्ठ १०।
३ 'ण च तइयाए गाहाए सह विरोहो, एत्थ वि दोसु दिसासु चउव्विहविक्खंभदंसणादो।' धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० २१।

लोक का प्रमाण अधोलोक के मूल में सात राजु, मध्यलोक के पास एक राजु, ब्रह्मस्वर्गके पास पाच राजु और लोकाग्र में एक राजु बतलाया है वह वहां पूर्व और पश्चिम दिशा की अपेक्षा से बतलाया है। उत्तर और दक्षिण दिशा की अपेक्षा से नहीं। इन दोनों दिशाओं की अपेक्षा तो लोक का प्रमाण सर्वत्र सात राजु है। यद्यपि इसका विधान[1] करणानुयोग के ग्रन्थों मे नहीं है तो भी वहा निषेध भी नहीं है अतः लोक को उत्तर और दक्षिण में सर्वत्र सात राजु मानना चाहिये।'

अब यदि इतने वक्तव्य को सामने रखकर तिलोयपण्णत्ति के सामान्य लोकाधिकार का निरीक्षण करते है तो स्पष्ट मालूम हो जाता है कि इस अधिकार में सामान्यलोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक के आकार और घनफल का जो विविध प्रक्रियाओं द्वारा निर्देश किया गया है वह स्पष्टतः वीरसेन स्वामी के सामने तिलोयपण्णत्ति के इस अंश के रहते हुए वे इसका प्रमाण रूप मे उल्लेख नहीं करते यह कभी संभव नहीं था। वीरसेन स्वामी तिलोयपण्णत्ति से अपरिचित थे यह बात भी नहीं है उन्होंने अनेक स्थलों पर इसका[2] प्रमाण रूप से उल्लेख किया है। अतः जिस तिलोयपण्णत्ति का वीरसेन स्वामी उल्लेख कर रहे है वह वर्तमान तिलोयपण्णत्ति से भिन्न होनी चाहिये यह निश्चित होता है।

आगे हम वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के वे उद्धरण दिये देते है जो वीरसेन स्वामी के मत का अनुसरण करते है—

'जगसेढिघणपमाणो[3] लोयायासो सपंचदव्वरिदी।
एस अणंताणंतलोयायासस्स बहुमज्झे ॥९१॥
सयलो एस य लोओ णिप्पण्णो सेढिविंदमाणेण।
तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिम मज्झिमउड्ढभेएण ॥१३६॥
सेढिपमाणायामं भागेसु दक्खिणुत्तरेसु पुढ।
पुव्वावरेसु वासं भूमिमुहे सत्त एक्क पचेक्का ॥१४९॥'

अर्थ—'पांच द्रव्यों से व्याप्त यह लोकाकाश जगश्रेणी के घन प्रमाण है और अनन्तानन्त अलोकाकाश के मध्य में स्थित है ॥९१॥ यह सब लोक जगश्रेणी के घनप्रमाण है। तथा इसके अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक ये तीन भेद है ॥१३६॥ लोक का प्रमाण दक्षिण और उत्तर दिशा में सर्वत्र जगश्रेणी अर्थात् सात राजु है। तथा पूर्व और पश्चिम दिशा में अधोलोक के पास सात राजु, मध्यलोक के पास एक राजु, ब्रह्मकल्प के पास पाच राजु और लोकाग्रमें एक राजु है ॥१४९॥'

१ 'ण च सत्तरज्जुबाहल्लं करणाणिओगसुत्तविरुद्धं, तत्थविधिप्पडिसेधाभावादो।' धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ०, २२।

२ तिरियलोगोत्ति तिलोयपण्णत्तिसुत्तादो। धवला खंड ३, पृष्ठ ३६

३ तिलोयपण्णत्ति प्रथम अधिकार।

यहा हमने तिलोयपण्णत्ति का केवल वही उद्धरण दिया है जिसकी सिद्धि वीरसेन स्वामी 'मुत्तनममास' इत्यादि दो गाथाओ और युक्ति से कर रहे हैं। वैसा तो पहला महाधिकार सामान्य लोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक के विविध प्रकार से निकाले गये घाफलों[1] से भरा पडा है जिससे वीरसेन स्वामी की मान्यता की ही पुष्टि होती है।

(२) तिलोयपण्णत्ति म पहले अधिकार की ७ वीं गाथा से लेकर ८७ वीं गाथा तक ८१ गाथाओ में मगल आदि छह अधिकारो का वर्णन है। यह पूरा का पूरा वर्णन सतपरूवणा की धवला टीका में आये हुए वर्णन से मिलता हुआ है। ये छह अधिकार तिलोयपण्णत्ति में अन्यत्र से सग्रह किये गये हैं इस बात का उल्लेख स्वय तिलोयपण्णत्ति कार ने पहले अधिकार की ८५ वीं गाथा[2] म किया है तथा धवला में इन छह अधिकारों का वर्णन करते समय जितनी गाथाए या श्लोक उद्धृत किये गये है वे सब अन्यत्र से लिये गये है तिलोयपण्णत्ति से नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि तिलोयपण्णत्तिकार के सामने धवला अवश्य रही है।

दोनों ग्रन्थों के कुछ समान उद्धरण निम्न प्रकार है—

'इहिणायमाइरियपरपरागय मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणु सरण निरयणहेउचि × × ।' धवला मंगलप्ररूपणा पृ० ८।'

'इय णाय अवहारिय आइरियपरपरागद मणसा।
पुव्वाइरियायाराणुसरणश्च निरयणणिमित्त ॥८८॥' ति० प० १ अ०

प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्त चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्त च युक्तिवत् ॥' ध० स० पृ० १६।

'जो ण[3] पमाणणयेहिं णिक्खेवेण णिरक्खदे अत्थ।
तस्साजुत्त जुत्त जुत्तमजुत्त च पडिहादि ॥८२॥' ति० प० १ अ०

'ज्ञान[4] प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रह ॥' ध० स० पृ० १७

'णाण होदि पमाण णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो।
णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहण ॥८३॥' ति० प० १ अ०

'मङ्गलस्यैकार्थमुच्यते—मङ्गल पुण्य पूत पवित्र प्रशस्त शिव शुभ कल्याण भद्र सौख्यमित्येवादीनि।' धवला म० पृ० ३१।

---

१ देखो तिलोयपण्णत्ति के पहले अधिकार की २१५ स २२१ गाथा तक।

२ मगल पहुदिच्छक्कं वक्खाणिय विविहगंथजुत्तीहि।

३ इसी प्रकार की एक गाथा विशेषावश्यकभाष्यमें आई है। यथा—
जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेण णिरक्खदे अत्थं।
तस्साजुत्त जुत्त जुत्तमजुत्त च पडिहाइ ॥२७६४॥

४ यह अकलंक के लघीयस्त्रय के छठे अध्याय का दूसरा श्लोक है।

'पुएणं पूद पवित्ता पसत्थ सिवभद्दखेमकल्याणा ।
सुहसोक्खादी सव्वे गिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥८॥' ति० प० १ अ०
'मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते—मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति
विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम् ।' धवला सं० पृ० ३२ ।
'गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे ।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मङ्गलं भणिदं ॥९॥' ति० प० १ अ०

इसी प्रकार के पचासों उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनमें यह जाना जा सकता है कि एक ग्रन्थ लिखते समय दूसरा ग्रन्थ अवश्य सामने रहा है। यहां पाठक एक विशेषता और देखेंगे कि धवला में जो गाथा या श्लोक अन्यत्र से उद्धृत हैं तिलोयपएणत्ति में वे भी मूल में शामिल कर लिये गये हैं। इससे तो यही ज्ञात होता है कि तिलोयपएणत्ति लिखते समय लेखक के सामने धवला अवश्य रही है।

(३) लघीयस्त्रय आदि अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता भट्टाकलंक देव आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् हैं। इनके बनाये हुए तत्वार्थभाष्य का उल्लेख वीरसेन स्वामी ने धवला[1] टीका में अनेक जगह किया है। 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' इत्यादि श्लोक इनकी मौलिक कृति है जो लघीयस्त्रय के छठें अध्याय में आया है। तिलोयपएणत्तिकार ने इसे भी नहीं छोड़ा। लघीयस्त्रय में जहां यह श्लोक आया है वहां से इसके अलग कर देने पर प्रकरण ही अधूरा रह जाता है। पर तिलोयपएणत्ति में इसके परिवर्तित रूप की स्थिति ऐसे स्थल पर है कि यदि वहा से उसे अलग भी कर दिया जाय तो भी प्रकरण की एक रूपता बनी रहती है। वीरसेन स्वामी ने धवला में उक्त श्लोक को उद्धृत किया है। तिलोयपएणत्ति को देखने से ऐसा मालूम होता है कि तिलोयपएणत्तिकार ने इसे लघीयस्त्रय से न लेकर धवला से ही लिया है, क्योंकि धवला में इसके साथ जो एक दूसरा श्लोक उद्धृत है उसे भी उसी क्रम से तिलोयपएणत्तिकार ने अपना लिया है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि तिलोयपएणत्ति की रचना धवला के बाद हुई है।

(४) धवला द्रव्यप्रमाणानुयोग द्वार के पृष्ठ ३६ में तिलोयपएणत्ति का एक गाथांश उद्धृत किया है। जो निम्न प्रकार है—

'दुगुणदुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगो' त्ति ।

वर्त्तमान तिलोयपएणति में इसकी पर्याप्त खोज की, किन्तु उसमें यह नहीं मिला। हां, इस प्रकार की एक गाथा स्पर्शनानुयोगद्वार में वीरसेन स्वामी ने अवश्य उद्धृत की है; जो इस प्रकार है—

'चंदाइच्चगहेहिं चेवं णक्खत्ततारख्वेहिं ।
दुगुणदुगुणेहि णीरंतरेहि दुवग्गो तिरियलोगो ।'

[1] देखो धवला संतपरूवणा पृष्ठ १०३ ।

किन्तु वहा यह नहीं बतलाया कि यह कहा की है। मालूम पड़ता है कि इसी का उपर्युक्त गाथांश परिवर्तित रूप है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो कहना होगा कि तिलोयपण्णत्ति में पूरी गाथा इस प्रकार रही होगी। जो कुछ भी हो, पर इतना सच है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति में इसका न पाया जाना यह सिद्ध करता है कि यह तिलोयपण्णत्ति उससे भिन्न है।

(५) यह हम ऊपर ही बतला आये हैं कि तिलोयपण्णत्ति में यत्र तत्र गद्य भाग भी पाया जाता है। इसका बहुत कुछ अंश धवला[1] में आये हुए इस विषय के गद्य भाग से मिलता हुआ है। अत यह शंका होना स्वाभाविक है कि इस गद्य भाग का पूर्ववर्ती लेखक कौन रहा होगा। इस शंका के दूर करने के लिये हम एक ऐसा गद्यांश उपस्थित करते हैं जिससे इसका निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। वह इस प्रकार है—

'एसा तप्पाओग्गसंखेज्जरूवाहियजंबूदीवछेदणयसहिददीवसायररूवमेत्तरज्जुच्छेदपमाणपरिक्खाविहीण अण्णाइरियोवएसपरंपराणुसारिणी केवलं तु तिलोयपण्णत्ति सुत्ताणुसारिजोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइदसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा।'

यह गद्यांश धवला स्पर्शनानुयोगद्वार पृ० १५७ का है। तिलोयपण्णत्ति में यह इसी प्रकार पाया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि वहां 'अम्हेहिं' के स्थान में 'एसा परूवणा' पाठ है। पर विचार करने से यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि 'एसा' पद गद्य के प्रारम्भ में ही आया है अत पुन उसी पद के देने की आवश्यकता नहीं रहती। तथा 'परिक्खाविही' यह पद विशेष्य है, अत 'परूवणा' पद भी निष्फल हो जाता है।

इस गद्यांश का यह भाव है—

'द्वीप और समुद्रों की संख्या में एक अधिक जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद मिलाने पर जितनी संख्या आवे उससे तद्योग्य संख्यात अधिक राजु के अर्धच्छेद होते हैं। इस प्रकार की परीक्षा विधि यद्यपि अन्य आचार्यों के उपदेशपरम्परा का अनुसरण नहीं करती फिर भी हमने केवल ज्योतिषी देवों का भागहार बतानेवाले सूत्र का अवलम्बन करनेवाली युक्ति के बल से प्रकृत गच्छ के सिद्ध करने के लिये उसका कथन किया है। जो सूत्र का अनुसरण करनेवाली युक्ति तिलोयपण्णत्ति सूत्र के अनुसार दी गई है।'

इस गद्य भाग से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गद्य भाग में एक राजु के जितने अर्धच्छेद बतलाये है वे तिलोयपण्णत्ति में नहीं बतलाये गये हैं किन्तु तिलोयपण्णत्ति में जो ज्योतिषी देवों के भागहार का कथन करनेवाला सूत्र है उसके बल से सिद्ध किये गये हैं। अब यदि यह गद्य भाग तिलोयपण्णत्ति का होता तो उसी में 'तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारि'

1 धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० ३१ और तिलोयपण्णत्ति प्रथम अधिकार पृ० ४३ का 'सपहि लोगपेरतट्ठिदवादवलय' इत्यादि गद्यभाग मिलाओ। प्राय तिलोयपण्णत्ति के अधिकांश गद्य भागों की यही स्थिति है।

पद देने की और उसी के किसी एक सूत्र के बल पर राजु के चालू मान्यता से संख्यात अधिक अर्धच्छेद सिद्ध करने की क्या आवश्यकता थी। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यह गद्य भाग धवला से तिलोयपरणत्ति में लिया गया है। नहीं तो वीरसेन स्वामी जोर देकर 'हमने यह परीक्षाविधि कही है' यह न कहते। कोई भी मनुष्य अपनी युक्ति को ही अपनी कहता है। उक्त गद्य भाग में आया हुआ 'अम्हेहि' पद साफ बतला रहा है कि यह युक्ति वीरसेन स्वामी की है। इस प्रकार इस गद्य भाग से भी यही सिद्ध होता है कि वर्तमान तिलोयपरणत्ति की रचना धवला के अनन्तर हुई है। तथा जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं कि वीरसेन स्वामी के सामने एक तिलोयपरणत्ति थी। इस गद्य भाग से भी उसकी पुष्टि होती है। दूसरे वर्तमान तिलोयपरणत्ति में उक्त गद्य भाग को सम्मिलित करते समय जिस प्रकार 'अम्हेहि' पद को बदल दिया उस प्रकार 'तिलोयपरणत्ति सुत्ताणुसारि' पद को नहीं बदला। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जिसने वर्तमान तिलोयपरणत्ति का संग्रह किया है उसके सामने एक अन्य तिलोयपरणत्ति थी या उसे दूसरी तिलोयपरणत्ति के रहने का निश्चय था।

इस प्रकार हमने पांच मुख्य प्रमाण उपस्थित किये हैं जिनसे यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान तिलोयपरणत्ति का संग्रह धवला के अनन्तर हुआ है। धवला के अन्त में एक प्रशस्ति[1] दी है जिससे ज्ञात होता है कि धवला की समाप्ति शक ७३८ में हुई थी। इससे हम वर्तमान तिलोयपरणत्ति के रचे जाने की पूर्वावधि तो जान लेते हैं। अब उत्तरावधि जानना शेष है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में त्रिलोकसार का खूब प्रचार है। इसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। ये शक सम्वत्[2] ९०० के लगभग हुए हैं। इन्होंने अपना त्रिलोकसार इसी तिलोयपरणत्ति के आधार से रचा है यह दोनों ग्रन्थों के देखने से अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है। फिर भी हम दोनों ग्रन्थों की कुछ ऐसी गाथाएं उपस्थित किये देते हैं जिनसे यह जाना जा सके कि त्रिलोकसार की रचना करते समय सामने तिलोयपरणत्ति अवश्य रही है। यथा—

'जगसेढिघणपमाणो लोयायासो सपंचदव्व रिदी।
एस अणंताणंतलोयायासस्स बहुमज्झे ॥' ति० प० गा० ९१।
'सव्वागासमणंतं तस्स य बहुमज्झदेसभागम्हि।
लोगोसंखपदेसो जगसेढिघणप्पमाणो हु ॥' त्रि० सा० पृ० ४।
'अट्ठविहं सव्वजगं सामरणं तह य दोरिण चउरस्सं।
जवमुरश्रं जवमज्झं मंदरदूसाइ गिरिगडय ॥' ति० प० गा० २१५ अ० १।

---

१ देखो धवला प्रथम भाग भूमिका पृष्ठ ४२।
२ देखो जैनसाहित्य और इतिहास में 'चामुण्डराय और उनके समकालीन आचार्य' शीर्षक लेख।

'सामेणए दो आयद जवमुर जवमज्झ मदर दूस ।
गिरिगडगेण वि जाणह अट्ठवियप्पो अधोलोगो ॥' त्रि० सा० गा० ११५
'बत्तीसट्ठावीस चउवीस वीस सोलसट्ठ च ।
हेट्ठिमछप्पुढवीए बहलत्त जोयणसहस्सा ॥' ति० प० गा० २२, अ० २ ।
'बत्तीसमट्ठवीस चउवीस वीस सोलसट्ठाणि ।
हेट्ठिमछप्पुढवीए सहस्समाणेहि बाहुलिय ॥' त्रि० सा० गा० १४१।
'तीस पणवीस च य पण्णरस दस तिण्णि होंति लक्खाणि ।
पणरहिदेक्क लक्ख पच य रयणादिपुढवीए ॥' ति० प० गा० २७, अ० २
'तीस पणुवीस पण्णरस दस तिण्णि पचहीणेक्क ।
लक्ख सुद्ध पच य पुढवीसु कमेण णिरयाणि ॥' त्रि० सा० गा० १५१।
'सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाणि सेसेसु अप्पबहुलत्त ।
उवरिं हेट्ठे जोयणसहस्समुज्झिय हवति पडलकमे ॥' ति०प०गा०२८, अ०२।
'सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाणिसेसासु अप्पबहुलोत्ति ।
हेट्ठुवरिं च सहस्स वज्जिय पडलक्कमे होंति ॥' त्रि० सा० गा० १५०।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात तो हो जाता है कि शक सम्वत् ७३८ से लेकर ९०० के मध्य में वर्तमान तिलोयपण्णत्ति की रचना हुई है। फिर भी यह जानना शेष है कि इसके सकलन करनेवाले कौन हैं और उन्होंने इस भूमण्डल को इस काल के मध्य में कब सुशोभित किया। अत इसीका विचार करते हैं।

(३) कर्त्ताविचार—

यद्यपि तिलोयपण्णत्ति के अन्त में कोई प्रशस्ति नहीं दी है और न प्रत्येक अधिकार के अन्त में अधिकार की समाप्ति के सूचक वाक्यों में ही कर्त्ता का निर्देश किया है फिर भी इसके अन्त में एक गाथा आई है जिससे इसके कर्त्ता और रचनाकाल के निश्चय करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। गाथा इस प्रकार है—

पणमह जिणवरवसह गणहरवसह तहेव गुणवसह ।
दट्ठूण परिस (अरिस) वसह जदिवसह धम्मसुत्तपाठए वसह ॥

अर्थ—आर्ष ग्रन्थों में श्रेष्ठ ऐसे अमुक आर्षग्रन्थ को देखकर जिनवरों में श्रेष्ठ ऐसे भगवान् महावीर को, गणधरों में श्रेष्ठ ऐसे गौतम गणधर को तथा गुणों में श्रेष्ठ और धर्मसूत्र के पाठकों में प्रमुख ऐसे यतिवृषभ आचार्य को तुम नमस्कार करो।

इस गाथा में तीन को नमस्कार किया है। भगवान् महावीर इस काल के अन्तिम तीर्थंकर है और गौतम उनके प्रधान गणधर हैं। जो श्रुत आचार्य परपरा से प्रवाहित होता चला आ रहा है उसके जनक और प्रवर्तक ये ही दो महापुरुष हैं अत प्रारम्भ में

इन दो को नमस्कार किया यह तो युक्त है पर आचार्यों में खास कर यतिवृषभ आचार्य को नमस्कार क्यों किया यह विचारणीय है।

अन्य विद्वानों का अनुमान है कि यहां 'जइवसह' पद श्लेषरूप में आया है अतः इस पद के द्वारा ग्रन्थकार ने अपने नाम का निर्देश किया है। और इस प्रकार वे वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के कर्ता उन्हीं यतिवृषभ को मानते हैं जिन्होंने कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्र लिखे। अतः हम यहां तिलोयपण्णत्ति के सिवाय अन्य प्रमाणों के आधार से उन्हीं के विषय में पहले विचार कर लेते हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना न तो आचार्य यतिवृषभ के समय का ही ठीक तरह से निर्णय हो पाता है और न तिलोयपण्णत्ति के कर्त्ता और और समय का भी।

वीरसेन स्वामी ने जयधवला के प्रारम्भ में आचार्य यतिवृषभ का निम्न शब्दों द्वारा स्मरण किया है—

'जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी विणागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥८॥

'अर्थात्—जो आर्यमंक्षु आचार्य के शिष्य है और नागहस्ति आचार्य के अन्तेवासी है वृत्तिसूत्रके कर्ता वे यतिवृषभ मुझे वर प्रदान करें।८।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वीरसेन स्वामी के मत से यतिवृषभ आचार्य आर्यमंक्षु के शिष्य और नागहस्ति के अन्तेवासी रहे हैं। वीरसेन स्वामी ने इस विषय में इससे अधिक और कोई उल्लेख नहीं किया है। अन्यत्र भी हमें इस विषय की कोई महत्त्व की सामग्री नहीं प्राप्त हुई। हां, श्वेताम्बर परंपरा में कुछ ऐसी पट्टावलिया हैं जिनसे आर्यमंक्षु और नागहस्ति के समय और क्रम पर प्रकाश पड़ता है। उनमें नन्दिसूत्र की पट्टावली मुख्य है। वहां लिखा है—

'भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥२८॥

अर्थ—'सूत्रों का कथन करने वाले, सूत्रानुसार आचार का पालन करने वाले, ध्यानी, ज्ञान और दर्शन गुणों के प्रभावक तथा श्रुत सागर के पारगामी और धीर आर्यमंगु को नमस्कार करता हूं।

इसके बाद आर्यनन्दलका उल्लेख करके नागहस्ती के विषय में लिखा है—

वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं।
वागरण करणभंगिय कम्मपयडीपहाणाणं।३०।'

अर्थ—जो व्याकरण, करण और चतुर्भंगी के प्रतिपादक शास्त्र और कर्म प्रकृति के ज्ञाताओं में प्रधान हैं ऐसे आर्य नागहस्ति का यशस्वी वाचक वंश वृद्धि को प्राप्त हो।

नन्दिसूत्र के इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि आर्यमंगु के शिष्य आर्यनन्दिल और आर्यनन्दिल के शिष्य नागहस्ती थे। इनमें आर्यमंगु को सूत्रों का व्याख्याता और नागहस्ति को कर्म प्रकृति का ज्ञाता भी बतलाया है अतः अधिक सम्भव तो यही है कि वीरसेन स्वामी ने धवला और जयधवला में जिन आर्यमंक्षु और नागहस्ति का उल्लेख किया है वे ये ही दोनों महापुरुष हैं। तथा(यतिवृषभ स्थविर इन्हीं के शिष्य और अन्तेवासी रहे होंगे।,साधारणतः इनका काल वीर नि० सम्वत् ४५० से ६०० के लगभग माना गया है, अतः यतिवृषभ स्थविर श० सं० ४०० के विद्वान् न होकर वीरनिर्वाण सम्वत् ४५० से ६०० के मध्य के विद्वान् होना चाहिये।)

यहां यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि तिलोयपण्णत्ति में जो १००० वर्ष तक की राज्यकाल गणना की है उसका क्या होगा क्योंकि हम तिलोयपण्णत्ति के रचनाकाल का विचार करते समय यह सिद्ध कर आये हैं कि यह ग्रन्थ श० सं० ७३८ से लेकर ८०० तक के मध्य में कभी संकलित किया गया है, अतः इसके कर्ता यतिवृषभ किसी भी हालत में नहीं हो सकते।

हां, यहां एक प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि धवला और जयधवला में वीर नि० से ६८३ वर्ष तक की अंगपूर्वधारियों की पट्टावलि दी है अतः गुणधर और धरसेन आचार्यों का इसके बाद होना ही सम्भव है। पर मेरा ख्याल है कि जो श्रुत धरसेन और गुणधर आचार्य को प्राप्त हुआ वह गौतम गणधर से लेकर किस क्रम से प्रवाहित हुआ इस बात का ज्ञान कराने के लिये तथा इन आचार्यों को प्राप्त हुए श्रुत में प्रमाणिकता का निश्चय कराने के लिये वे पट्टावलियां दी गई हैं। पट्टावलियों के मध्य में आ० गुणधर और धरसेन के नाम का उल्लेख करना सम्भव था क्योंकि पट्टधर आचार्यों में उनका समावेश नहीं होता है। अतः उनके अन्त में इनका नामोल्लेख किया गया है। इसलिये ६८३ वर्ष की मर्यादा को छोड़कर ही इनके समय का निर्णय करना युक्त होगा।

इस समय आचार्य यतिवृषभ के रचे गये साहित्य में से कसायपाहुड पर लिखे गये चूर्णिसूत्र उपलब्ध हैं। उनमें उपशामना के भेद बतलाते हुए वे लिखते हैं—

'उवसामणा दुविहा करणोवसामणा अकरणोवसामणा च। जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयाणि अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपवादे। जा सा करणोवसामणा सा दुविहा देसकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि। देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थउवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपयडीसु।

अर्थात्—'उपशामना के दो भेद हैं करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामना के दो नाम हैं अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। इसका कथन कर्मप्रवाद में

किया है। तथा करणोपशामना के दो भेद हैं देशकरणोपशामना और सर्व करणोपशामना। इनमें से देशकरणोपशामना के दो नाम हैं देशकरणोपशामना और अप्रशस्त उपशामना। इसका कथन कर्म प्रकृति में किया है।'

यहाँ यतिवृषभ आचार्य स्पष्टतः निर्देश कर रहे हैं कि अकरणोपशामना का कथन कर्मप्रवाद में और देशकरणोपशामना का कथन कर्मप्रकृति में किया है। कर्मप्रवाद दूसरे पूर्वका नाम है और कर्मप्रकृति अग्रायणीय पूर्व का एक अवान्तर पाहुड है। यतिवृषभ आचार्य के इस उल्लेख से मालूम होता है कि वे उस समय इस सूत्रग्रन्थ को सुशोभित कर रहे थे जब कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृति का लोप नहीं हुआ था क्योंकि विषय भेद की सूचना पूर्वक पृथक् पृथक् ग्रन्थ का नामनिर्देश करना तभी सम्भव है जब इन ग्रन्थों का अवलोकन किया गया हो। यद्यपि उत्तरवर्ती बहुत से आचार्य इस प्रकार का निर्देश करते हुए पाये जाते हैं पर उनका यह अनुसरण मात्र है। किन्तु यतिवृषभ आचार्य की स्थिति इससे बहुत कुछ भिन्न है। वे उस समय के विद्वान् हैं जब जैन वाङ्मय को स्वतन्त्र पुस्तकारूढ करने का उपक्रम ही किया जा रहा था। अतः उनके द्वारा इस प्रकार का उल्लेख करना विशेष अर्थ रखता है। धवला आदि में जो ६८३ वर्ष की अंगपूर्वधारियों की पट्टावली पाई जाती है उसमें पूर्वधारियों का अस्तित्व काल वीर० नि० सं० के प्रारम्भ से लेकर ३३५ वर्ष तक माना है। तथा पहले हम यतिवृषभ आचार्य का काल ४५० से ६०० तक के भीतर लिख आये हैं। इस तरह पूर्वधारियों के काल से यतिवृषभ के काल तक मध्यका अन्तर ११५ वर्ष होता है, अतः बहुत सम्भव है कि परिपाटी क्रम से न भी सही तो भी यतिवृषभ आचार्य के काल तक पूर्व ज्ञानियों की परम्परा चालू रही होगी। और इस प्रकार यतिवृषभ स्थविरको भी उक्त पूर्व साहित्य जानकारों से सीधा सम्पर्क रहा होगा। यदि हमारा यह तर्क सच हो जिसके सच होने की बहुत कुछ सम्भावना है तो इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य यतिवृषभ उस समय के विद्वान् होने चाहिये जब पूर्वधारियों की त्रुटित परम्परा इस धरातल पर चालू थी।

इस प्रकार जब कि यतिवृषभ स्थविर का अस्तित्वकाल वी० नि० सं० ४५० से ६०० तक के बीच का निश्चित होता है तो वे वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के कर्ता किसी भी हालत में नहीं हो सकते, क्योंकि इसका रचनाकाल, जैसा कि हम पहले बतला आये हैं, श० सं० ७३८ के बाद का ही निश्चित होता है।

अब हमें यह देखना है कि यदि इस तिलोयपण्णत्ति के कर्ता आचार्य यतिवृषभ नहीं है तो इसके अन्त में आई हुई जिस गाथा का उल्लेख हम पहले कर आये हैं उसमें यतिवृषभ आचर्य को नमस्कार क्यों किया गया है। इससे तो यही पता चलता है कि उनका इस ग्रन्थ के साथ साक्षात् या परम्परा रूप से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। किन्तु इस बात का विचार करने के पहले हम यह बतला देना

चाहते हैं कि थोड़े से परिवर्तन के साथ इसी प्रकार की एक गाथा जयधवला के सम्यक्त्व अनुयोगद्वार के आदि में भी आई है। जो इस प्रकार है—

'पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणहरवसहं ।
दुसहपरीसहविसहं जइवसहं धम्मसुत्तपाढरवसहं ॥'

अर्थात्—'जिनवरों में श्रेष्ठ ऐसे भगवान् महावीर को, गणधरों में श्रेष्ठ ऐसे गौतम गणधर को, ऋषियों में श्रेष्ठ ऐसे गुणधर आचार्य को तथा कठिन परीषहों को जीतनेवाले और धर्मसूत्रों के पाठकों में श्रेष्ठ ऐसे यतिवृषभ स्थविर को नमस्कार करो।

कसायपाहुड और उस पर लिखे गये चूर्णिसूत्रों के अंतिम अनुयोगद्वारों के टीकाकार जिनसेन स्वामी हैं। अतः यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि उस मंगल गाथा के रचयिता भी वे ही होंगे। उन्होंने इसमें चार को नमस्कार किया है। यहां इन चारों को ही नमस्कार करने का कारण स्पष्ट है। मेरी राय में इस गाथा की और तिलोयपण्णत्ति के अन्त में आई हुई गाथा की स्थिति समान है। अतः हम इस निदान से इतना तो जान ही लेते हैं कि इस तिलोयपण्णत्ति से यतिवृषभ स्थविर का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है किन्तु वह किस प्रकार है यह जानना फिर भी शेष है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि वीरसेन स्वामी के सामने एक तिलोयपण्णत्ती थी जिसका उन्होंने अनेक जगह उल्लेख किया है। साथ ही यह भी बतला आये हैं कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति में भी इससे भिन्न एक तिलोयपण्णत्ति का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। अतः बहुत कुछ सम्भव तो यही है कि इसके रचयिता यतिवृषभ आचार्य रहे हों। और वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के संकलयिताने अन्तिम मंगलगाथा द्वारा इसी बात को स्वीकार किया हो। सम्यक्त्व अनुयोगद्वार की गाथा से तिलोयपण्णत्ति के अन्त में आई हुई गाथा में जो मौलिक परिवर्तन दिखाई देता है वह कुछ अर्थ अवश्य रखता है।

सम्यक्त्व अनुयोगद्वार की गाथा में 'गुणहरवसहं' पाठ है जब कि तिलोयपण्णत्ति की गाथा में उसके स्थान में 'गुणवसहं' पाठ पाया जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व अनुयोगद्वार की गाथा में तीसरा चरण 'दुसहपरीसहविसहं' है जब कि तिलोयपण्णत्ति की गाथा में उसके स्थान में 'दट्ठूण परिसवसहं' पाठ पाया जाता है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि कसायपाहुड के एक अधिकार का नाम सम्यक्त्व अनुयोगद्वार है, तथा कसायपाहुड के कर्ता गुणधर आचार्य और उस पर चूर्णिसूत्र के रचयिता यतिवृषभ आचार्य हैं। इसी सबब से जिनसेन आचार्य ने सम्यक्त्व अनुयोगद्वार के आदि में मंगल करते हुए गुणधर और यतिवृषभ का भी स्मरण किया है। मालूम होता है कि इसी प्रकार जिस तिलोयपण्णत्तिसुत्त की सूचना वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका में की है उसके कर्ता यतिवृषभ आचार्य हों और वर्तमान तिलोयपण्णत्ति की रचना में वह मूल आधार रही हो, इसी बात का ज्ञान कराने के लिये वर्तमान

(१) वीरसेन स्वामी के साहित्यकार्य मे ये अच्छी तरह परिचित थे। तथा उनके शेष कार्य को इन्होंने पूरा भी किया है। संभव है उन शेष कार्यों में उस समय की आवश्यकतानुसार तिलोयपण्णत्ति का संकलन भी एक कार्य हो।

(२) वीरसेन स्वामी का काल प्राचीन साहित्य के संकलन, संशोधन और संपादन का रहा है। उन्होंने इसकी जो दिशा निश्चित की थी, वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का संकलन भी उसीके अनुसार हुआ है। तथा सम्पादन की इस दिशा से परिचित जिनसेन ही थे।

इस प्रकार वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के रचनाकाल और संकलन कर्ता का विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस तिलोयपण्णत्ति का संकलन शक संवत् ७३८ से पहले का किसी भी हालत में नहीं है और यह बहुत सम्भव है कि इसका संकलन आचार्य जिनसेन ने किया हो। तथा इस विचार मीमांसा से यह भी ज्ञात होता है कि इसके पहले एक तिलोयपण्णत्ति और थी और सम्भव है वह यतिवृषभ आचार्य की रही होगी।

समीक्षा

षट्खण्डागम [धवलाटीका समन्वित]—जीवस्थान चूलिका, जिल्द ६ वीं—सम्पादक—प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, एल-एल० बी०, सहसम्पादक—पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक—श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन-साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती, मूल्य पुस्तकाकार—१०), शास्त्राकार—१२), पृष्ठ संख्या—४० + ५०२ + ४४, छपाई सफाई सुन्दर।

इस भाग में प्रकृतिसमुत्कीर्तन स्थानसमुत्कीर्तन महादण्डक एवं उत्कृष्टस्थिति आदि नौ चूलिकाओं का वर्णन है। इन चूलिकाओं में कर्म सिद्धान्त का परिपूर्ण निरूपण बड़ी उत्तमता और व्यवस्था के साथ किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में शंका समाधान पूर्वक चूलिकाओं का अवतार और उसके भेदों का प्ररूपण बड़ी रोचकता से किया है। पहली चूलिका में कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों का विवेचन विस्तार के साथ व्यावहारिक ढंग से किया है। दूसरी चूलिका में प्रत्येक कर्म की कितनी उत्तर प्रकृतियाँ एक साथ बाँधी जा सकती हैं और उनका बन्ध कौन कौन से गुणस्थान में संभव है, आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है। इस चूलिका में विशेष रूप से ज्ञानावरणीय के एक, दर्शनावरणीय के तीन, वेदनीय के एक, मोहनीय के दस, आयु के चार, नाम कर्म के आठ, गोत्र के दो और अन्तराय के एक बन्धस्थान का उत्पत्ति पूर्वक सविस्तर प्रतिपादन हुआ है। तीसरी महादण्ड नामक चूलिका में बताया गया है कि सम्यक्त्वोन्मुखी जीव के किस किस परिणाम में कैसी विशुद्धता बढ़ती है और उससे किस प्रकार अशुभतम, अशुभतर और अशुभ प्रकृतियों का बन्ध व्युच्छेद होता है। इसके अनन्तर इस ग्रन्थ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक चूलिका का है। इसमें सबसे प्रथम "एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं बंधदि तावे पढम सम्मत्तं लभदि" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने प्रथम सम्यक्त्वोत्पत्ति योग्य सामग्री का अच्छा विश्लेषण किया है। सम्पूर्ण चारित्र को प्राप्त करने वाले के स्वरूप का निरूपण करते हुए बताया गया है कि यह जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मों की अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थिति को स्थापित करता है किन्तु वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र की आठ आठ मुहूर्त और शेष कर्मों की भिन्न मुहूर्त्त स्थिति को स्थापित करता है।

सूत्रकार के इस संक्षिप्त विषय को धवलाकार ने बहुत सूक्ष्मता, गम्भीरता और विशालता के साथ समझाया है जिससे साधारण पाठक भी आसानी से समझ सकते हैं। इस सम्बन्ध में इस प्रकार का विवेचन अन्यत्र नहीं मिल सकेगा। पृष्ठ ३४४ से ३६४ तक वर्णित क्षपण का विधान भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, इसमें अपूर्वकरण गुणस्थान से लेकर समय समय की

दयानन्द जी महाराज का कथन है कि वेद को स्वयं ईश्वर ने ही बनाया। लेखक ने इसके उत्तर में जो निम्न बातें लिखी हैं वे बहुत ही तर्क पूर्ण और मनन करने योग्य है। लेखक का कहना है कि जब ईश्वर वेदों का कर्त्ता है, तो वेद ईश्वर के कर्म हुए; क्योंकि जिसका जो कर्त्ता है वह उसका कर्म होता है।' इससे ईश्वर के ऊपर दोष आता है। क्योंकि आर्य समाजियो के मतानुसार ईश्वर निर्गुण है, निराकार है, जब ईश्वर निर्गुण है, तो उसके कर्म कैसे साबित होंगे ? और कर्म भी तो तभी किये जाते हैं, जब मन मे किसी बात की इच्छा उठती है। आर्य समाजी सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर को न मन है, न इच्छा। ऐसी दशा मे वेद, जो आध्यात्मिक, शारीरिक और व्यावहारिक ज्ञानो (जिसकी तह में इच्छाएँ मौजूद है) की खान है, ईश्वर निर्मित कैसे कहे जा सकते हैं ?

इस प्रकार बहुत सी ऐसी बातें है, जिन्हे लेखक ने अपनी तर्क की कसौटी पर कस कर निर्मूल साबित कर दिया है। लेखक ने, अपने विचारो की पुष्टि मे जितनी दलीलें दी हैं, वे खोज की हैं; और वे अपने इस प्रयत्न के लिये प्रशंसा के पात्र है।

वैदिक ऋषिवाद—लेखक—स्वामी कर्मानन्दजी, अम्बाला छावनी; प्रकाशक—श्रीअजितकुमार जैन, मंत्री, प्रकाशन विभाग भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ अम्बाला छावनी, साइज—डवल क्राउन सोलह पेजी। पृष्ठ संख्या—९६; मूल्य—चार आने।

उपर्युक्त पुस्तक में भी लेखक ने वेद का ही प्रसंग छेड़ा है। इसमे भी आर्य समाज के सिद्धांतों के ऊपर आक्षेप किये गये हैं। वेद कब और कहां तथा किसने बनाये, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका जल्द समाधान नही हो सकता, यह वास्तव में एक विवादास्पद विषय है। लेखक ने अपनी इस पुस्तक में सिर्फ विवादों का दिग्दर्शन कराया है, और यह साबित करने की चेष्टा की है कि वेद ईश्वर कृत नही हैं। कही कहीं लेखक की भाषा आक्षेप के जोश मे आकर संयतहीन भी हो गयी है। भाषा तथा प्रूफ सम्बन्धी भूलें भी कहीं-कहीं बेहद खटकती हैं। आशा है, दूसरे संस्करण मे इन त्रुटियों का सुधार कर दिया जायगा। तोभी यह छोटी-सी पुस्तक सर्वसाधारण के लिये उपयोगी है। इसके द्वारा सत्य मार्ग का अन्वेषण किया जा सकता है। स्वामीजी ने अनेक प्रवल युक्तियों से ईश्वर कर्तृत्व का खण्डन किया है। खण्डन शैली रोचक और मनोहर है। छपाई-सफाई साधारण है।

—बनारसी प्रसाद भोजपुरी, हिन्दीरत्न।

स्वर्गीय हेमचन्द्र (संस्मरण) –संग्रहकर्त्ता और सम्पादक श्रीयुत यशपाल जैन, बी० ए० एल एल० बी०, भूमिका-लेखक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रकाशक पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई। मूल्य चार आँसू। छपाई सफाई अत्यन्त सुन्दर। पाँच आवश्यक चित्रों से सुसज्जित। पृष्ठ संख्या १५+१६०।

भारत के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी पं० नाथूराम प्रेमी के एकमात्र दिवंगत पुत्र की स्मृति में हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यिकों की श्रद्धाञ्जलियों का यह संग्रह है। महात्मा भगवानदीनजी, पं० हजारी प्रसादजी द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमारजी प्रो० हीरालाल जैन श्री रामचन्द्र वर्मा, पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्रीपदुमलालजी बख्शी, सियाराम शरण जी गुप्त नर्मदाप्रसाद खरे, पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी सुभद्रा कुमारी चौहान, एम, एल कुलकर्णी, निहालचंदास जी जागीय, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, श्रीयुत कामता प्रसादजी जैन प्रभृति ४९ विद्वानों के अश्रु प्रवाह से यह संग्रह सिक्त है। पं० नाथूराम जी प्रेमी की पंक्तियों को पढ़कर भला कौन पाषाण हृदय भी चार आँसू न बहा लेगा।

इस संस्मरण का नायक एक अल्हड़, स्पष्टवादी, निर्भीक और बेपरवाह व्यक्ति था। इन पंक्तियों का लेखक पहले से संस्मरणनायक के सम्बन्ध में कुछ भी न जानता है, फिर भी नायक के अल्हड़पन और निरंकुशता पर मन मुग्ध हो जाता है। ऐसे गुण कुछ ही सहिष्णु और विजयोन्मुख युवकों में पाये जाते हैं। अपने माँ बाप के प्यारे तो सभी बच्चे होते हैं, पर यह सरस्वती पुत्र तो उस विद्वन्मण्डल का प्यारा था, जो साहित्य, समाज और संस्कृति आदि में सत्य के आधार पर नवीनता का उपासक है। यदि स्वर्गीय हेमचन्द्रजी के समान दो चार उद्धत (बोलचाल के अर्थ में नहीं) और चरित्रवान् नवयुवक साहित्य क्षेत्र में उतर आवें, तब तो चाटुकारिओं, भीरुओं और साहित्य सेवी के नाम पर चोरों को कहीं शरण न मिले।

हेमचन्द्रजी एक अध्ययन शील आलोचक थे। इनका अध्ययन इतना गम्भीर होता जा रहा था कि कुछ ही दिनों में यह एक अपना विशेष स्थान बना लेते। कुछ साहित्य ही नहीं, योग, विज्ञान, चिकित्सा और हस्त सामुद्रिक आदि कई विषयों के ये मर्मज्ञ हो चले थे। धुन के ऐसे पक्के थे कि जिस विषय में कहीं ठोकर खाते, तो शीघ्र उस विषय की पुस्तकें एकत्र कर महीनों उस विषय में जुट जाते और उसके सम्बन्ध में ग्रन्थ ही लिख डालते। अपने अध्ययन के बल पर बड़े से बड़े लोगों की आलोचना ये कर बैठते थे। अन्तर्राष्ट्रीय धारा और नीतियों का इन्हें पूर्ण ज्ञान ही नहीं था अपना गम्भीर मत भी रखते थे। संस्मरण के ५० पृष्ठ में उनके विचार-गाम्भीर्य का पता चलता है।

ज्ञात होता है, हेमचन्द्र जी लिखने की अपेक्षा अभी अध्ययन में अधिक समय बिता रहे थे और उनके जानते वे अभी कुछ लिखने योग्य न थे। अभिभावक के दबाव का शायद यह परिणाम था। हेमचन्द्रजी साधरण संस्कृत के अतिरिक्त अंगरेजी, मराठी, गुजराती और बंगला बढ़िया जानते थे पर उनके अध्ययन का माध्यम अंगरेजी और हिन्दी था। उनकी इतने थोड़े समय में लिखी अप्रकाशित और प्रकाशित ३४ रचनाएँ पुस्तक, निबन्ध आलोचना और अनुवाद आदि हैं। जिनमें 'मंगलमय महावीर, योग-विषयक-लेखमाला, जाति भेद की वैज्ञानिक नींव, साहित्य शिक्षा का अध्ययन, ब्रह्मचर्य दर्शन, जल चिकित्सा, युक्तिवाद के प्रति बगावत, रीति या शैली आदि प्रमुख हैं।

प्रेमी जी उन्हे एक लोकविद् के रूप में देखना चाहते थे, क्योंकि सभी पिता यही चाहते हैं। पुत्र की प्रकृति और महत्ता का ज्ञान पिता को अभी पूर्ण रूप से न हो पाया था। इसी लिये प्रेमी जी उन्हे फटकारते भी थे। उचित भी था, कितना भी बड़ा विद्वान् पुत्र आखिर पुत्र ही था। किन्तु अचानक पुत्र की मृत्यु से पिता को यह लगता है कि वे उसे प्यार न कर सके। आखिर भवितव्यता के आगे वश ही क्या चल सकता है। हेमचन्द्रजी के उत्तराधिकारी उनके दोनों पुत्रों को देख-देख कर अब उन्हें सन्तोष करना है।

अब इस सम्बन्ध में विशेष न लिखकर यही कहूँगा कि स्व० हेमचन्द्रजीकी महत्ता जानने के लिए यह संस्मरणात्मक ग्रन्थ देखना चाहिये। मैं ठीक कहता हूं कि एक अपरिचित होते हुए भी मैं बिना पूरी पुस्तक देखे नहीं छोड़ सका। कारण यह कि हेमचन्द्रजी की प्रकृति, जीवन-गति और चरित आदि ऐसे हैं कि कुल जान लेने की ही इच्छा होती गयी। दूसरी बात यह कि अनेक सुप्रसिद्ध साहित्यिकों ने संस्मरण लिखा है, तो प्रसंगतः विभिन्न साहित्यिक, राजनीतिक और व्यावहारिक ज्ञान चर्चा के समावेश ने इस ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ा दी है।

अन्त में विद्वद्वर यशपाल जी तथा प्रेमी से प्रार्थना है कि इस दिवंगत युवक के संस्मरण के समान ही उसकी रचनाओं से जनता को परिचित कराने के लिए उनका एक संकलन सम्पादित और प्रकाशित कर दें।

कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्य,
काव्यतीर्थ, हिन्दीरत्न।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. X JUNE, 1944 No. I

Edited by

Prof Hiralal Jain M A, LL B
Prof A N Upadhye, M A, D Litt
Babu Kamata Prasad Jain M R A S
Pt K Bhujabali Shastri Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH BIHAR, INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 2

CONTENTS





Om

JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[भट्टाकलंकदेव]

Vol. X No 1 — ARRAH (INDIA) — June, 1944

THE NATIVITY SCENE ON A JAINA RELIEF FROM MATHURA

By

Dr V S Agrawala M A Ph D Curator Provincial Museum Lucknow

The Jaina collection in the Lucknow Museum originally brought from the Kankali Tila of Mathura is distinguished by a number of sculptures of high artistic quality including some pieces which are important for iconography and for the early history of the Jaina religion itself The sculpture discussed here merits attention, as from a stylistic point of view it is quite an early figure assignable to about 1st century B C and secondly, because it portrays a religious scene which may have something to do with the life of Tirthankara Mahāvira The nude standing figure in the crowd of persons filling the proper right half of the scene leaves little room for doubt about the Jaina character of the representation

The relief consisted of a running frieze of which only the central scene is now preserved Originally used as a piece for horizontal position, the stone was later on remade into an upright railing pillar with a mortice hole which is partly preserved on the right side This hole has been rather fatal to the most important figure of the whole story which is almost cut away by it

The scene on the left side consists of a dance festival celebrated with music. It should be connected with some event or occasion justifying a festive display of human feelings. The structure under which the dance scene is laid is an open Maṇḍapa supported on four columns having plain circular shafts and capitals with two volutes each. The gabled roof is apparently covered with tiles on the outside. It was supported on a high central beam from which its two divisions sloped and rested on the columns. The roof is held on a frame work of triple lengthwise beams and shorter rafters placed crosswise, which is even today the prevailing arrangement for supporting tiled roofs on a framework of *ballis* The structure was apparently in wood except the tiles which may have been of fired clay.

Inside the Maṇḍapa is a dancing female figure shown in an attractive pose. On her right is a squatting male figure beating a gong with a small rod. On her left is another seated male figure playing on a pair of drums, the one in horizontal position placed in his lap was technically known as *Aṅkya*(अंक्य), and the other placed vertically in front of him was given the name of *Ūrdhva* (ऊर्ध्व). Both the male figures wear typically heavy turbans with a central knob above the forehead. There are on this side also some standing female figures one of which is in the act of beating time with the palms of her hands and was known as *pāṇi-vādikā* or *pāṇighnī*. The other two female figures apparently very attentive participate in the general atmosphere of the scene, but not by any visible performance. Outside the Maṇḍapa on this side on the left of the fourth pillar commenced another scence of which only a mutilated male figure is now left.

The proper right side of the composition beginning from the first pillar consists of two rows of human figures. About two-thirds of them are connected as witnesses of the dancing scene and the rest on the extreme end form an independent part of the story. Of the visitors the first one sitting by the side of the pillar seems to be the leader of the group being more conspicuously treated and wearing a prominent head turban. He must represent either a rich *Śreshṭhī* or a royal personage. The man squatting next to him is seated in the

manner of Pramathas, has a scarf tied round the waist which passes on the outside of left folded leg His hair is flowing on shoulders. His queer look perhaps shows him to be a light character The third figure is standing and is of secondary rank, his left hand being placed on the right shoulder of the middle figure In the upper row are four male figures who appear to form part of the retinue and are witnessing the festive scene in front of them

The scene in the extreme right end was vital to the whole composition but has very badly suffered In it there is a male figure at the top of whom only the bust remains It is shown in adoration apparently offering homage to the figure carved below it On the proper left of the scene is a nude young figure holding a kamandalu in the left hand and a piece of cloth in the right of which the ends fall below This figure is a little in profile and although its head is now lost, it paid attention to the figure seated on his right Unfortunately the main figure is extremely fragmentary of which only the right leg in an oblique suspended position and a part of the drapery is preserved It appears that it was a male figure seated in *lalitāsana* with the left leg suspended and the right one folded The figure was intended to be one worthy of homage as is made apparent by the adoring figure at the top, that it had something to do with Jainism is warranted by the nude boyish figure shown in front

The correct identification of the scene is not beyond doubt but has every likelihood of referring itself to the story of the birth of the Tirthamkara Mahāvīra The seated figure of whom only the left leg is preserved appears to have been seated in an attitude similar to that of the god Hari Naigamesha preserved in the Lucknow Museum on relief No J 626 (Smith's *Jaina Stūpa*, Plate XVIII) In that also the figure of a nude young boy is shown in the foreground The Mother and the Child occurring in the Hari Naigamesha scene connect it definitely with the Nativity of Mahāvīra depicting the transference of the child from the embryo of the Brāhmanī Devananda to the body of the Kshatriyānī Triśalā effected by the god Harinaigamesha. The present scene is earlier in date by about a couple of centuries, and obviously represents the birth celebration of the same Tirthamkara

In this connection we may also notice the well-known Āryavatī sculpture of the time of Mahākshatrapa Śoḍāsa (Smith's *Jaina Stūpa*, Pl XIV). The figure of Āryavatī is shown standing in *abhayamudrā* with two attendant female figures holding a royal parasol (*chattra*) and the fly-whisk (*chaunri*). The existence of a goddess of the name of Āryavatī is unknown to the Jaina pantheon. It seems that the titte signifies "The Venerable Lady" and it would be most appropriate to designate the royal lady Triśalā, mother of Mahāvīrā as Āryavatī. The Nativity idea must have been a popular one amongst the Jainas as it was amongst the Buddhists of Mathura, both of whom appear to have worked on a common pattern on the evolution of their iconographic formulas. This sculpture showing dance and music at the birth of the saint is in conformity with the art tradition as seen at Bharhut. We may compare with it the famous Sammada scene ushering in the birth of the Buddha (See, Barua, *Bharhut* B K. I., Pl. 2, B. K. III, Fig 34) Panini also calls festive celebrations by the name of Sammada in sūtra III. 3-68 (संमदप्रमदौ हर्षे). The representation of the Nativity scene on the famous Hari-Naigameshi relief belongs to the Kushāna period, i e. about 1st century A D. by which time the old formula had rather become more direct and shorn of its crowded material But the present sculpture belongs the Śuṇga period and is worthy of greater attention, as an evidence of the early development of the idea of Nativity represented in Jaina art.

THE CONTRIBUTION OF JAINISM TO WORLD CULTURE.

A Chakravarti

(*Continued from Vol IX No II Page 67*)

This multiple aspect of reality with its relations with one another has its own philosophical corollary of religious importance The concept of Nirguna Brahmma is logically considered as meaningless by Jaina philosophers because according to them there can be no reality without quality, there can be no Dravya without Gunas Guṇa or quality without an underlying substance would be unreal because it would be unsupported Similarly substance or Dravya without qualities or Gunas would be unreal because of its being an empty abstraction from its qualities You may talk of qualities as distinct from Dravyas for purposes of philosophical discussion But in reality there can be no subsistence without qualities and no qualities without subsistence So the highest religious concept instead of being the Nirguna Brahman of the Vedāntin becomes a Paramātman with infinite qualities according to Jainism To attain this goal of Para matmasvarūpa with the infinite qualities is the ideal set up by Jainism

---

SYĀDVĀDA

The logical predication relating to any object of reality, since it is bound to take a particular aspect of the same, must be in the form of a partial predication, You cannot assert anything about reality as an absolute predication Any assertion made about reality therefore must be limited to the relative point of view If the point of view is an emphasis on the nature of the underlying substance, the predication will be of one form if the point of view is to emphasise the change, the form of predication will be different altogether That the relative point of view determines the nature of predication is an obvious fact in logical assertion Even in the ordinary world the value of a thing depends upon its relation to the point of view

of five senses organisms having the sense of hearing in addition to the other four. The highest class of organisms consists of five senses of organisms with the additional characteristic of manas which is also a form of indriya. The last would represent human beings. Thus we have the gradation of the animal kingdom from the lowest organisms to the highest, Man figuring as the lord of the organic world This biological classification of animals is peculiar to Jaina philosophy, and it is nowhere found in Indian thought. We may further add that the doctrine that the vegetable kingdom consists of living organisms and that it is a part of the biological world is also peculiar to Jaina thought. We may assert with certainty that wherever this Jaina concept of life is introduced the author of the work must be a Jaina in faith for the simple reason that it is found nowhere outside Jainism as previously mentioned.

Here it is interesting to note that the existence of microscopic organisms were also known to Jaina thinkers. Microscopic organisms, technically called Sūkshma Ekendriya Jivas or minute organisms with the sense of touch alone, are assumed to exist all over the world. They may abide in the earth, air, water and so on; and according to their abode they are classified as the microscopic organisms living in earth, air or water. These microscopic organisms are not preceptible to the ordinary senses though their existence is known by their function and activity. The doctrine of Ahiṁsā implies non-injury to these microscopic organisms also, but the injuction not to injure these is binding only on the ascetics or the yatis, because a householder cannot carry out strictly the doctrine of a higher Ahiṁsā with reference to these micrcsoopic organisms

Next we shall consider the psychological conccpts of Jainism. Without entering into details we may mention here the classification of knowledge and the knowing process recognised by Jaina thinkers. The knowing processes are divided into five distinct stages. Beside the ordinary sense-perception and the knowledge through books Jaina thinkers recognise three other proeesses of cognition. The two former are called Mati-jñāna and Śruta-jñāna, knowledge by sense perception and knowledge hy study of books. The latter three are called Avadhi-jñāna, the Manahparyāya-jñāna and Kevala-jñāna.

Avadhi knowledge implies a sort of clairvoyant perception of distant objects and events This is distinctly an extra-perceptual cognition in as much as it is not obtained through sense perception In recent psychic researches, psychologists have been able to discover this clairvoyant capacity present in latent form in every human being Given proper facility this extra perceptual cognition may be developed in all persons Similarly the fourth variety namely, Manahparyaya knowledge implies the capacity to appreciate what takes place in another person s mind This is called telepathy in modern Psychology The existence of telepathic cognition is also recognised by students of scientific research These extra perceptual activities of the mind were evidently developed by Yogic practices in ancient India and the Jaina thinkers seem to have made a special study of these The last is called Kevala knowledge on account of its excellence This is infinite in its nature and comprehension and includes the whole of knowable reality, and it is associated with a Sarvajña or one who has obtained omniscience after destroying Karmas through Yoga or Tapas Every individual human being when he gets rid of all his Karmic bondage through elaborate process of discipline of Tapas or Yoga, is capable of attaining this stage of all knowing state or Kevalajñāna which is the intrinsic characteristic of Paramātman This process of self-realisation or attaining to the true self hood with infinite knowledge is the goal of life prescribed by Jainism This is Moksha, and the Jaina religious doctrines prescribed for reaching this stage constitute Moksha-mārga From this point of view every living being has in itself in a latent from or in germ this Paramātma-Svarupa and every individual has a right and the possibility of attaining the goal Each individual personality by its own effort is capable of extricating itself from the trammels of Karma and attain this state of reality of supreme self Each individual personality is according to Jainism an architect of its own destiny

Let us look at the Jaina contribution to Art Fine arts are of different kinds architecture, sculpture, painting, music and poetry In all these different forms we have contributions made by early Jaina leaders and thinkers In fact, in ancient India, architecture and

sculpture may be said to have been inspired by Jaina thinkers. Vedic Hinduism does not contemplate anything like temple worship. Its religious paraphernalia was confined to Yāgaśālā and the field of animal sacrifice. Jains have emphasised the importance of Chaitya and Chaityālaya-idol representing the Tīrthaṅkaras and the temples for these idols as objects of worship. Besides the five objects of worship Pañchaparameshthis, Jain thinkers speak of four other objects namely, Jina Dharma, Jina Śrutha Jina Chaitya and Jina Chaityālaya the latter two being idols and the place for idols. Building temples dedicated to different Tīrthaṅkaras whose Pratibimba or idol was established therein must have started with Jaina conception of Samavasarana According to Jaina tradition every Tīrthankara after attaining Kevalajñāna has to spend the rest of his period in Dharma-prabhāvanā, preaching the Dharma when he is provided with an edifice called Śamavasaraṇa constructed by Devendra a hall for the congregation assembled therein to listen to the divine words of wisdom The description of a Samavasaraṇa is generally given in Jaina literature It will not be far wrong to suppose that this concept of Samavasarana is the source of inspiration for building up Chaityālayas or temples - a duty imposed upon Jaina kings and noble men. In early india even in the historical period, most of the ruling chiefs, both in the north and south of India, were followers of Jaina faith, and they must have started temple building. From Chandragupta Maurya in the north to the Pallava and Pāṇḍya kings in the south each vied with one another in putting up Chaityālayas dedicated to Jinas. Buddhism also must have had some such architectural scheme when Bhuddist builders specialised in putting up Stūpas over the relics of Goutama Buddha. Temple architecture as such was not encouraged by Buddhist builders Medievial India of Purānic Hinduism must have taken up the clue from the Jaina builders and constructed their own buildings, but very often converted most of the Jaina temples to serve their purpose.

This process of temple building not only implies skill in architecture but also necessarily implies a taste for the art of sculpture. Individual figures or idols designed and executed by Jaina sculptors even now remain as wonders of Indian sculptural art Wherever possible they employed painting as a source of instruction and propaganda of the

Jaina doctrine Cave paintings which are even now existing such as Ajenta Frescoes are to a very great extent due to the inspiration of the Jaina artists They were also patrons of music The description of Samavasarana contains a description of how Indra with his retinue of Devas appear before Jina with music and dancing Devanartanā and the Deva dundubhi are associated with the glory of Samavasarana Naturally therefore the temple worship according to Jainas must be a copy of this worship of the Jina by the Devas Hence they encouraged music to a very great extent. It is enough to mention here one important fact as evidence of this In Hindu epics and Purānas whereever there is a description of suayamvara, we always have victory in the Svayamvara mandapa achieved merely by physical prowess of breaking a bow or hitting a mark with an arrow to gain the hand of the princess But in the case of Jivaka winning the hand of Gandharvadatta as narrated in Jivakachintāmani we have the story laid in Svayamvara-mandapa for a musical contest in which Jivaka wins the hand of the Vidyadhara princess Hence it is a point worthy of note that though Jainism seems to emphasise the ascetic aspect to a very great extent, it has not altogether forgotten the aesthetic aspect of life Musical information given in the Tamil classic Silappadigāram, a Jaina kāvya still contains a mine of information relating to the art of music. It has not been fully understood and appreciated by Tamil scholars And lastly we have the art of poetry It is in this that Jaina scholars have excelled all the rest. Their contribution to literature in different languages is the pride of India Their contribution to Sanskrit literature, their contribution to Prākrit literature are practically unrivalled Jaina ascetics made it a point to study the language of the people for the purpose of educating them Thus wherever they settled they enriched the literature of the land by their own contributions in the language of the land The earliest Tamil works were most of them associated with Jaina writers Not only the majority of the Kāvyas such as Chintāmani, Śilappadigāram and Valayāpadi owe their existence to the Jaina writers but grammatical works such as Tolkappiyam Nannūl and Yāpparungalam and moral treatices as Kural and Nāladiyār all owed their existence to Jaina writers But for the Jaina writers there would have been no Tamil literature worth

mentioning in South India. The same is the case with Kannada litererature. The early works in Kannada literature were all by Jaina writers. The literature in different languages thus contributed by the early Jainas served as a model for the later literature contributed by the non-Jaina writers.

The cheif Ethical aspect of Jainism the Ahiṁsā Dharma, forms the foundation of moral life for a Jaina Rules are prescribed according to this fundamental principles. Jaina thinkers have formulated different types of moral injunctions one intended for the householder and the other intended for the ascetic The latter is more strict and rigorous than the former. The former is called Śrāvakāchāra, the course of conduct prescribed for the householder. The latter is called Yatyāchāra, the course of conduct prescribed for the Yati or the ascetics The course of conduct which is based on the basic principle of Ahiṁsā prescribed by Jainism consists of five Vratas :—Ahiṁsa, Satya, Asteya, Bhahmacharya and Parimitaparigraha. Ahiṁsā implies not merely non-injury to any insect but also the positive characteristic of love and sympathy towards all living creatures. The next vow is Satya or truth. This truth-speaking also is to be derived from the doctrine of Ahiṁsā which implies love and sympathy to all living creatures. As the term Asteye literally means non-stealing or non-acquiring any object belonging to others which are not voluntarily given to you Brahmacharya as far as the householder is concerned means family life confined to the enjoyment of one's own wife and avoiding all types of sex-transgressions. The last item is limiting one's own personal possessions in the world. Acquiring of property in the form of land, cattle, gold or silver is the process of acquiring personal possessions. All these, come under the class of Parigraha and the householder is enjoined to limit his personal possessions according to one's own status Anything acquired beyond this limit must not be considered as one's own, must be used for the welfare and betterment of society as a whole. This last item has got an important economic significance for the modern world, as may be presently noticed. The same five vows or Pañchavratas when applied to the Yatis or the ascetics are called Pañcha Mahavratas, the five great vows as con-

trasted with the Pañcha Anuvratas, the five smaller vows which are related to the householder. Each of these Pañcha Mahāvratas is applied to the Yati without any limitation—a limitation which is imposed upon the householder as an economic unit of producer For example the Brahmacharya which excludes sex perversity in the householder though it does not exclude sex life with one s own wife would be applied absolutely in the case of the Yati who must observe complete sex abstinance as an ascetic Similarly in the case of the last vow of Parigrahaparimāṇa when the householder has to limit his personal possessions to suit his status the Jaina ascetic must have nothing as his own He cannot even acquire a piece of cloth to cover his nakedness He is to adopt the Jāta rūpa, the form in which he was born Complete abstinance from personal possessions and undisturbed concentration upon one s own self would imply that one's own body itself is important only as a means of concentration Yoga to attain self realisation Otherwise even the body becomes superfluous insignificant and useless The Jaina ascetic has no home of his own He is called Anagāra, the houseless Whole living kingdom constitutes his family the whole earth with the stars-spangled canopy of the heavens would constitute his home. This rigorous discipline imposed upon Jaina ascetic is very often mistaken by the non-Jaina students as characteristics of all Jainas because they are not aware of the twofold organisation of Jaina society the majority of which are the householders and a few ascetics, who devoted their life and energy for the cultural and moral betterment of the society

In conclusion it is worth noticing the importance of the first and the last of the vratas for the modern world The doctrine of Ahimsā which, though found in Hinduism, is peculiar to Jainism Though it is adopted by the Hinduism it has not been fully appreciated by the Hindu thinkers They try to reconcile with this their doctrine of Yāga or animal sacrifice and very ofen made a conflicting mixture of both as a Hindu religious doctrine Its full implication has not been appreciated, and very often it is criticised as the cause of the political downfall of modern India because it is assumed to be the weapon of the weak and helpless It is assumed to be the mark of cowards Those critics who talk in this strain are

ignorant of Indian history as well as of the significance of the doctrine of Ahiṁsā. The glorious periods of Indian history, the periods of Chandragupta and Aśoka of the Mauryan dynasty, the emperor Khāravela who came after him, the Chālukyas and the Pallavas in the Deccan and the Cheras and Cholas and Pandyas of the South till the period of Hindu revivalism had all been followers of Jaina faith based on the doctrine of Ahiṁsā, bui they were able to build up empires which had been the pride and glory of India and with which the foreign kings from the West and the East sought friendly alliance. Historically therefore the great periods of Indian history were all associated with the doctrine of Ahiṁsā. But political decline may be said to have begun with the Hindu revivalism which undermined the early Indian empires built by the Jaina sovereigns and which stood for social democracy. Intrinsically the doctrine of Ahiṁsā instead of being the mark of cowardice appears to be the quality of the courageous victor. It requires a greater strength of self to face injury than to inflict it. This was the attitude of Christ on the Cross; when he was insulted by Roman soldiers, he merely cried *'Father they know not what they do. Forgive them'.* Similarly whenever a Jaina saint is subjected to all sorts of persecutions by enemies, never swerved from the path of contemplation but merely smiled in pity for the folly of the ignorant enemy who by injuring the monk injured himself by walking the path of spiritual damnation. Smiling at the enemy in spite of persecution is a mark of superman, the victor, who walks on the path leading to the conquest of self. No doubt this doctrine is chosen as a method of liberating modern India to its full status of freedom and liberty by one of the greatest leaders of modern India. This experiment for the betterment of social conditions in India is not confined to India, its possibilities may have world wide value and may be applicable to the whole world The so-called Western civilisation based upon national aggrandisement and consequently generating national animosity cannot preserve itself unless it accepts this fundamental doctrine of Ahiṁsā as international ideal of live and let live. Not only this doctrine of Ahiṁsā is intended to be a panacea for the world ills but also the last doctrine of Parimita Parigraha is necessary for the economic reconstruction of the world.

The Russian experiment of communism, a form of economic levelling down the institutions of property is opposed to the existing system of capitalistic economics As a compromise between these two economic institutions we must have a process of social reconstruction leading to voluntary limitation of personal property and setting apart the surplus for the betterment of general society as a whole The social and economic reconstruction of the world must therefore adapt itself to important principle of Jaina ethics the doctrine of Ahimsā and the voluntary limitation of personal property for in that way lies the Harmony among nations, as well as peace in this world

---

VAIŚĀLI, MAHĀVIRA'S BIRTH PLACE.

By

Dr B.C Law, Ph D. D. Litt. M.A., B L., F.R A.S.B.

Vaiśālī is famous in Indian history as the capital of the Licchavi Rājās and the headquarters of the powerful Vajjian confederacy. It is intimately associated with the early history of Jainism and Buddhism.

This great city claims Mahāvīra the founder of Jainism as its citizen. He has been described in a cannonical Jaina text[1] as the Arahat Jñātriputra, the revered, the famous inhabitant of Vaiśāli, who possessed the highest knowledge and the highest faith. He was known as Vesālie or Vaiśālika, that is, an inhabitant of Vaiśāli[2]. Abhayadeva in his commentary on the Bhagavati Sūtra (2, 1, 12, 2) explained Vaiśālika by Mahavira and speaks of Viśālā as Mahāvīra-jananī or the mother of Mahāvīra[3]. From a comparison of the Buddhist and Jaina scriptures it appears that Kuṇḍagrāma, the birth place of Mahāvira was a suburb of Vaiśāli[4]. Mahāvirā's mother Triśalā was a sister of Ceṭaka who was one of the Vaiśāli Rajās. During his latter ascetic life Mahāvīra did not neglect the city of his birth and out of the fortytwo rainy seasons he spent no less than twelve at Vaisālī[5].

Vaiśālī, the capital of the Licchavis, has been identified with the present village of Basarh in the Muzafferpur district of north Bihar The identity of Vaiśāli with Basarh has been proved still more decisively by the Archaeological explorations carried out on the site by T. Bloch in 1903—4.

Before the advent of Mahāvīra the faith of which he was the last exponent seems to have been prevalent in Vaiśāli and the surroun-

---

1. *Sūtrakritāṅga*, 1, 2, 3, 22.
2. Jacobi, *Jaina Sūtras*, pt. I, Into, xi
3. Weber, *Indische Studien*, Band XVI., 263.
4. Jacobi, *Jainu sūtras*, SBE, Vol. XXII, pp. x—xi.
5. Jacobi, *Kalpa sūtru*, paragraph 122.

ding country in some earlier form It appears from the Jain accounts that the religion as fixed and established by Pārsvanātha was followed by some at least of the Kṣatriya peoples of North-eastern India specially amongst the residents of Vaiśāli We learn from the Āyārāṅga Sūtra that Mahāvīra s parents were worshippers of Pārśva and followers of the Śramaṇas[1] Similar accounts are given in other Jain works of the prevalence in the country of a faith which was afterwards developed by Mahāvīra Śramanas or wandering ascetics had been in existence ever since the time of the earlier Upanisads and evidently the Sramanas that were followed by the parents of Mahāvīra belonged to one of the numerous sects or classes of Indian ascetics After Mahāvīra s time the number of his followers among the Licchavis appears to have been large even including some men of the highest position in Vaisāli, as for examples, Siha[2], a general in chief of the Licchavis who was the disciple of Mahāvīra and Saccaka[3], a Nigantha who had the hardihood to challenge the Buddha himself to a discussion on philosophical tenets before an assembly of five hundred Licchavis

The Licchavis of Vaisāli who were a great and powerful people of India in the Sixth country B C were Kṣatriyas of the Vāsiṣtha gotra[4] The Jaina sacred works tell us that Kṣatriyānī Triśalā mother of Mahāvīra and sister of Cetaka, one of the kings of Vāisālī belonged to the same gotra[5] The Licchavis did great honour to the memory of Mahāvīra as we read in the Kalpa Sūtra. In that night in which the venerable ascetic Mahāvīra died the nine Licchavis along with others on the day of new moon instituted an illumination on the Poshadha which was a fasting day[6] The Jain works tell us that these nine Licchavis were tributary to Cetaka, king of Vaiśālī and maternal uncle of Mahāvīra[7] who was a Jñātri kṣatriya of the Kāśyapa gotra

1 *Jaina sūtras* pt. I, SBE, vol XXII, p 194
2 *Vinayatexts* SBE vol XVII pp 108f *Vinaya Mah vagga*
3 *Majjhima Nikāya* I pp 227—37
4 *Mahāvastu Senart* I p 283
5 S B E Vol XXII p xii Jacobi *Jaina Sūtras*, Vol XXII p 193, *Āyārāṅga Sūtra* 11, 15 15
6 *Kalpa Sūtra* paragraph 128
7 S B E Vol XXII p 266 note 1

Mahāvīra, the son of Kṣatriya Siddhārtha who was otherwise known as Śreyāṃsa and Yasaṃsa who figured as a supremely gifted kṣatriya teacher and leader of thought, a great Brāhmaṇa, a great guardian, a great guide, a great teacher, a great pilot, and a great recluse, gathered unto him many men and women and was honoured and worshipped by many hundreds and thousands of lay disciples Some among whom were Licchavis of Vaiśālī who had their peculiar form of government, their free institutions, their manners and customs, their religious views and practices which afford us glimpses of India of the transition period when the ancient vedic culture was developing in new directions and undergoing a transformation under the influence of the speculative activity out of which *emerged the two great religions of Jainism and Buddhism.* Mahāvīra was undoubtedly a great Vaiśālian who lived thirty years as a householder, more than full twelve years in a state inferior to perfection, something less than thirty years as a *Kevalin*, forty-two years as a recluse, and seventy-two years on the whole At the age of seventy-two he died freed from all pains in the town of Pāvā after a long and remarkable career as a great religious reformer.

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain LL. D., M. R. A. S.

(*Continued from Vol. VIII, No. I page 35*)

EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

No.	Period & Date.	Events
91	307 B. C.	According to Kharatara Gachha Paṭṭāvalī Sthūlabhadra dies and Ārya Mahāgiri succeeds him.
92	308 B. C.	Ārya Suhastin is created a sūri. (*Ibid*)
93	305 B. C.	Seleukas Nikator, King of Syria, led an expedition against Chandragupta, but a treaty was made. Seleukos gave his daughter Helen in marriage to the Indian liberator. (SJI. ii, i, p. 225)
94	300 B. C. or 297 B. C.	Bindusāra Maurya succeeds his father Chandragupta. The Greeks called him by the name 'Amitrochates' i.e. Amitraghāta, which shows that he was a great warrior. Dimachos was sent to him as ambassador by Antikhos and Dionysios. (EHI., p. 126 JRAS. 1928, I, pp. 132—135)
95	282 (245) B. C.	Arya Mahāgiri dies. Suhastin succeeds[1] him as the head of the Śvetambara Jaina Samgha. (Jacobi, Kalpasūtra Intro. 10)

No	Period & Date	Events.
96	273 B. C.	Aśoka Maurya ascends to the throne of Magadha. After the conquest of Kalinga Aśoka became a humanitarian and set himself to preach the creed of Ahimsā, which was based on the teachings of Buddha and Mahāvira. (JA. V 54 ff.)
97	236 B. C.	Kuṇāla Maurya succeeds Aśoka, who was followed by Samprati, the grandson of Aśoka Samprati was converted to Jainism and he sent Jain Śramaṇas to the countries of Arabia and Persia. (SJI II, i. pp 294—295 and JBORS., I. p. 116).
98		Śālisûka Maurya, the younger brother of Samprati, achieved the conquest of Jainism throughout Saurāṣṭra and enhanced the glory of the religiousness of his elder brother Samprati, amongst the various sections of the Jaina community. As a result, the Saṃgha of naked Jain saints gains prominence. (JBORS., XVI. pp. 29—31).
99	225 B. C.	Chedi Kings of Kalinga flourished.
100	207 B. C.	King Khāravela of Kalinga was born.
101	192 B. C.	King Khāravela was proclaimed Crown Prince of Kalinga.
102	184 B. C.	Viśākhāchārya and ten other Daśapûrvadhārî āchāryas flourished in the Digambara Saṃgha since the death of Bhadrabāhu

No	Period & Date	Events
		Śrutakevalin In the Nandi āmnāya Paṭṭāvalī their names and respective period of pontiffship is given in the following manner — 1 Viśākhāchārya Daśapūrvi, 10 years 2 Prosthila " 19 " 3 Kṣatriya " 17 " 4 Jayasena " 21 " 5 Nāgasena " 18 " 6 Siddhārtha 17 " 7 Dhṛtiṣena " 18 " 8 Vijaya 13 " 9 Buddhilinga " 20 " 10 Deva " 14 " 11 Dharmasena " 14 " (Dhavalā, Intro p 26)
103	183 B C	King Khāravela ascends to the Imperial thrown of Kalinga (JBORS XIII, 244—245)
104	182 B C.	Khāravela attacked Sātavāhana king Śātikarni in order to help the Kāśyapa Kṣatriyas and occupied the territory of the Muṣikas (*Ibid*)
105	179 B C	Khāravela conquered the Rāṣṭrikas and the Bhojakas (*Ibid*)
106	177 B C	Khāravela's mahārājābhiṣeka ceremony was performed and he proclaimed himself as King Emperor

No.	Period & Date.	Events.
107	176 B. C	Probably the crown Prince of Kalinga, to succeed Khāravela was born (*Ibid.*)
108	175 B. C.	Battle of Gorathagiri was fought. Demetrius withdrew from Mathurā hearing about the invasion of Khāravela on Upper India. (*Ibid*)
109	173 B. C.	Khāravela invaded the Uttrāpatha.
110	172 B. C.	Khāravela celebrated reformed Jaina Pûjâ.
111	171 B. C.	Khāravela defeated Puṣyamitra of Magadha and brought back the image of Kalinga Jina to his capital.
112	170 B C	Khāravela observes Jain penances snd austerities on the Kumārî hill. He calls together the Jaina Saṃgha and endeavours to restore the lost Jaina canons.
113	169—152 B. C.	Khāravela dies. (*Ibid*)
114	166 B. C.	Nakṣatrāchārya, the first among the eleven-Aṇgadhārîs flourished. (Dhavala, *loc. cit.*)
115	155 B. C.	King Menander attacked India and came into the touch of the Jaina monks. (Milinda : 108 & Hist. Gl. p. 78.)
116	150 B. C.	Jain Inscription from Mathurā. (Ep. Ind. II, 195.)
117	146 B. C.	Jayapala, who knew the eleven Angas flourished. (Dhavalā, *loc. cit.*)

No	Period & Date	Events
118	123 B C	Kālkāchārya invites 96 Shāhi Saka clans to Saurāstra who attacks later on Gardabhilla the king of Ujjain and restores Āryikā Saraswati to Kālka (Cambridge History of India, I, p 167)
119	107 B C	Pandava, another eleven Anga dhari flourished (Dhavalā, *loc. cit*)
120	100 B C	During the reign of Azes I Jainism flourished at Taxilla (SJI, II, 2, p 13)
121	93 B C	Dhruvasen, eleven Angadhari flourished (Dhavalā, *loc. cit*)
122	61 B C	Kamsa, eleven Angadhari followed Dhruva
123	57 B C	Nahapâna Ksatrapa was ruling at Bhragukachcha and was defeated by king Gautamiputra Sātikarni who was known as 'Vikrmāditya also Nahapāna was a follower of Jainism at a time and Vikrmāditya was also converted to Jain faith (SJI II, 2 pp 20—25 & 62—64 & JBORS XVI 250 ff)
124	53 B C	Vik Sam 4 Mathurā Jain image inscription, edited by Buhler (Ep Ind II, 201.)

No.	Period & Date.	Events.
125	"	Mathurā Jaina image inscriptions Saṃvat 5 & 16, edited by Buhler. (Ep. Ind III, No. 12& 14.)
126	"	Mathurā Jaina image inscription of Saṃvat 5, edited by Buhler, records the dedication of an image of Vardhamāna Tīrthankara by the daughter of Pāla. (Ep. Ind. I, p 381 No. I.)
127	"	Mathura Jaina image inscription of Saṃvat 5, records the dedication of an image for the welfare and happiness of all creatures. (Arch :Survey Rep III, p. 30, No. 2 and Ind. Ant., Vol 33. p. 16.)

—*To be contd.*

KRṢNA LEGEND IN THE JAIN CANONICAL LITERATURE PART I

By

Mr M N Deshpande[1], B A

The life history of Kṛṣna has been from ancient times a favourite subject and a treasure-house to extract legendary material for all writers on various topics religious, philosophical didactic and mundane Even to day it inspires poets to pen enchanting lyrics and it will continue to be so even in future Complex is the personality of Kṛṣna and oriental scholars have put before the scholar-world, diverse opinions on the point Before entering in that controversial discussion I propose to deal with the legend of Kṛṣna as found in the Jain Canonical literature, as the first part of my article. The second part will consist of a critical comparison of Jain tradition with the Brahmanic tradition as recorded in the Mahābhārata and some deductions based on that comparison

Though we cannot assign exact date to the Jain Canonical Literature (for the writing activity extended over a period of about thousand years), the books from which I have culled the material with the exception of one book (10th Anga)[2] can be said to represent the tradition before the beginning of the Christan era[3] Thus this material will naturally interest the scholars interested in the study of Mahābhārata and the late Purāṇas

I have arranged the material in a certain manner that will facilitate its comparison with the Mahābhārata tradition The material

---

1 I am thankful to Professor *H D Sankalia* for giving me this subject and guiding me in its study

2 *Uttarādhyayana* ed J *Charpentier* Intro 26—7

It is stated here that It may as well be remarked at once that the 10th Anga is apparently in its present shape a very late composition

3 *Ibid* 31—2

4 *Utta* op cit 164

he renounced the worldly life. He was followed by his brother and the bride Rājimatī. Kṛṣṇa performed their renunciation ceremonies and blessed them. Then there follows a very interesting but at the same time very didactic account of the meeting of Rājimati and Rathanemī.

(ii) *Kṛṣṇa's wives*[14]—The canonical tradition is not unanimous on this point. *Nāyā.* gives that he had 32,000 wives while *Añta.* and *Pra. Vyā.* give that he had 16,000 wives. His chief queen was Rukmiṇī. It is also stated that the marriage of Rukmiṇī brought in its train a great battle. We also get the list of his wives who became nuns. It runs as follows: Padmāvatī, Gorī, Gandharī, Lakśnā, Jāmbuvaī, Saccabhāmā and Ruppiṇī

3. *Exploits of Kṛṣṇa*[15]—In *Pra. Vyā.* Kṛsna is described as having killed Maustika and Canūra. He also killed Vijjāhara, Keśi Sauṇi and Putaṇā. He is described as the destroyer of the crown of Kaṁsa and the pride of Jarāsaṅdha. In *Sūtrakṛatāṅga* we get a reference to the fight of Krsna with Śiśupāla.

4. *Destruction of Dwārakā and the death of Kṛsṇa*[16]—Kṛṣṇa once asked the sage Ariṣṭanemī about the source of destruction of Dwārakā. He told that it will be caused by wine, fire and anger of Dwaipāyana. When the city of Dwarakā will be burning, Kṛṣṇa going to Pandu-Mathura to see Pāṇḍavas accompanied by Rāma Baladeva, with all his relatives killed and passing through Kosaṁba forest, and while sitting on a slab of stone under a bunyan tree will be killed being pierced in the foot by a sharp arrow discharged by Jarakumara. He lived for 10,000 years.

(i) *Future births of Kṛṣṇa*[17]

(a) First he will be born in the Vālukaprabhā hell.

(b) Then he will be born as the 12th Prophet by name Amama in the Utsarpiṇī era in the Pandu country.

---

14. *Añta.* op. cit. 5 and 25 and *Nāyā.* op cit. 68 and *Pra. Vyā.* op. cit, 85.
15. *Pra Vyā.* op cit. 71—2 and *Sūtrakṛtāṅga* ed. *P. L. Vaidya* 18.
16. *Añta.* op. cit. 25 and *Sīhā. S.* op. cit, 486.
17. *Añta.* op. cit. 26.

5 *Krṣṇa and the Pāṇḍavas*[18]

(i) Pandu-He is mentioned as the king of Hastināpura with Kunti as his wife. Kunti is the sister of Vasudeva Pandu had in all five sons Yudhiṣṭhira, Bhīma, Arjuna Nakula and Sahadeva

(ii) *Drupada*[19]—He is the king of Kampillapura, a city in the country of Pañcāla in Bhāratavarsa The name of his wife is Cellanā They had a son by name Dhutthajjumma and a daughter by name Draupadī

(a) *Draupadī*[20]—Her former births—She is born first as the wife of a Brahmin In this birth she becomes the cause of the death of the monk by offering him poisonous alms Due to this impious act she is put to great torment and after her death she is born in a hell, then as a fish, again as a hellish creature, then as a dog, again as a hellish creature and so on for a number of times In the end she is born as the daughter of a merchant When she came of age, she was married to a merchant youth, but because of her burning touch he ran away The same thing happened in the case of a beggar who was married to her subsequently Afterwards she becomes a nun but she does not obey her female preceptor and performs penance in a garden where she sees a courtisan enjoying in the company of five men She longs for the same enjoyments and performs Nidāna and then becomes loose in conduct and ultimately dies to be born as the daughter of Drupada

(b) *Svayamvara of Draupadī*[21]—Invitations for the svayam vara ceremony were sent to the following kings and Princes —Krṣṇa, along with the chiefs of Dwārakā Samudravijaya etc (This contains the list of all kings mentioned under Krṣṇa s sovereignty) Paṇḍu the king of Hastināpura along with his five sons —Juhiṭṭhilla, Bhīmasena Ajjuna Naula, Sahadeva and Duryodhana along with his 100 brothers So also Saunī, Sahadeva the son of Jarāsandha of Rāyagiha, Āsatthāma, Javaddaha and Salla Also Kanha

18 *Nāyā* op cit 178
19 *Nāyā* op cit 175—6
20 *Nāyā* op cit 152—76
21 *Nāyā* op cit 178

Angirāya, Nandiraya of Campā, Sisupala the son of Damaghōsa of Suttimai along with his 500 brothers, King Damadanta of Hastināpura, Hatthisisa, king Dhara of Mahurā, Ruppī the son of Mesaga of Kodinna, Kīvaga of Virata along with his 100 brothers and many other kings.

(e) *Draupidi's Choice*[22] :—She entered the pandal with a female companion of her who acquainted her with the kings and princes who had arrived there by means of a mirror in which they were reflected. She was first made acquainted with Ḍasāra Princes, then with Ugrasena and then the Pāṅdavas. She, impelled by her former 'Nidāna' chose the five Pāṅḍavas as her husbands and garlanded them together.

(iii) *Nārada* :[23] is characterised as a type of man interested in quarrels. He used to instigate people to quarrels, add fuel to the fire and pose as an impartial observer. He is named as Kacchulla-Nārae.

(a) Nārada[24] persuades Paumanābha of Avarakaṅkā or Amarakaṅkā to kidnap Draupadi as a revenge for her rude behaviour. Paṅḍu seeing that Draupadi was kidnapped made investigations and sent Kunti to Kṛṣṇa to request him to bring her back. Pāṅḍavas who accompanied Kṛṣṇa in this expedition are unable to vanquish Paumanabha Kṛṣṇa defeats him and starts on his return journey The Āvarakaṅka of Krsna is included in the ten Acchēragas or wonders.

(b) *Ganges episode*[25] : Pāndavas on their return journey had to cross Ganges There they think of testing the might of Kṛsna, as a consequence of such an act of distrust, Pāṅḍavas are banished to the southern Bhāratavarśa. They stayed at Pandu-Mathura extolling Kṛṣṇa.

---

22. *Nāyā*. op. cit 182,
23 *Nāyā*. op. cit 184, Stha. S. op, cit. 523
24. *Nāyā* op. cit. 195,

6 *The end of Pāndavas*[25] —Pāndavas as ordered by Krsna repaired to the southern part of Bhāratavarsa and lived there extolling Krsna There Draupadi gave birth to a son by name Pandusena Pāndavas then accepted the Jain faith in the presence of Aristanemi. Once they heard that Aristanemi along with 536 monks breathed his last on the mount Girnara and being inspired to end their lives in a similar fashion, Pāndavas climbed the Śatrunjaya mountain lived there performing many fasts for a few years, studied the 14 Purvas along with Acaranga and finally attained Kevala knowledge and Moksa

Draupadi, hearing this, mastered the 11 Angas at the feet of the nun Suvratā, having mortified the flesh by many fasts, having confessed and expiated for many years, died and was born in Brahmaloka for the duration of 10 Sāgaropamas It is also told that she will be liberated in the Mahāvideha varsa

25 *Niyā* op cit 197—9

THE METAPHYSICS AND ETHICS OF THE JAINAS.[1]

By

H Jacobi

All who approach Jain philosophy will be under the impression that it is a mass of philosophical tenets not upheld by one central idea, and they will wonder what could have given currency to what appears to us an unsystematical system I myself have held, and given expression to, this opinion, but I have now learned to look at Jain philosophy in a different light. It has, I think, a metaphysical basis of its own, which secured it a distinct position apart from the rival systems both of the Brahmans and of the Buddhists. This is the subject on which I would engage your attention for a short space of time.

Jainism, at least in its final form, which was given it by its last prophet the twenty-fourth Tīrthakara Mâhāvīra, took its rise, as is well known, in that part of Eastern India where in an earlier period, according to the Upaniṣads, Yājñavalkya had taught the doctrine of Brahman and Ātman, as the permanent and absolute Being, and where the Mahāvīra's contemporary and rival, Gotama the Buddha, was preaching his Law, which insisted on the transitoriness of all things. Jainism, therefore, had to take a definite position with reference to each of these mutually exclusive doctrine; and these it will be necessary to define more explicitly.

The one great truth which the authors of the Upaniṣads thought to have discovered, and which they are never weary of exalting, is

1. The late lemented Dr. Hermann Jacobi was a leading Orientalist and a pioneer of Jaina studies in Europe. This important paper of his was originally published in the Transactions of the Third International Congress for the History of Religions, Vol. II, pp. 59-66. Oxford 1908. This volume is is not easily available Many scholars, interested in Jainism, wrote to me for a copy of this paper I have with me an offprint of it For the benefit of those to whom this paper is not accessible, I thought it advisable to reprint it in the Jaina Antiquary.—A. N. U

that, underlying and upholding from within all things, physical as well as psychical, there is one absolute permanent Being without change and with none other like it. The relation between this absolute Being and existent matter has not clearly been made out by the authors of the Upaniṣads but all unprejudiced readers will agree that they looked on the phenomenal world as real. On this point the different schools of Vedāntins arrived at different conclusions, which however, need not detain us here.

In opposition to this Brahmanical doctrine of absolute and permanent Being, Buddha taught that all things are transitory, indeed his dying words were, that all things that are produced must perish. The principal heresy, according to the Buddhists is the *Ātmavāda* i.e. the belief that permanent Being is at the bottom of all things, they are as we should say, but phenomena or as Buddha expressed it, *dharmas* there is no *dharmin*, no permanent substance of which the dharmas could be said to be attributes.

Thus the Brahmans and the Buddhists entertained opposite opinions on the problem of Being because they approached it from two different points of view. The Brahmans exclusively followed the dictates of pure reason which forces us to regard Being as permanent, absolute, and uniform; the Buddhists, on the other hand, were just as one sided in following the teaching of common experience according to which existence is but a succession of originating and perishing. Either view, the *a priori* view of the Brahmans, and the *a posteriori* view of the Buddhists is beset with many difficulties when we are called upon to employ it in explanation of the state of things as presented to us by our consciousness, difficulties which cannot be overcome without a strong faith in the paramount truth of the principle adopted.

The position taken by the Jainas towards the problem of Being is as follows. Being they contend is joined to production, continuation and destruction (*sad utpāda dhrauvya vināśa yuktam*), and they call their theory the theory of indefiniteness (*anekāntavāda*), in contradistinction to the theory of permanency (*nityavāda*) of the Vedāntists, and to the theory of transitoriness (*viṇāśavāda*) of the

Buddhists. Their opinion comes to this. Existing things are permanent only as regards their substance, but their accidents or qualities originate and perish. To explain: any material thing continues for ever to exist as matter; which matter, however, may assume any shape and quality. Thus clay as substance may be regarded as permanent, but the form of a jar of clay, or its colour, may come into existence and perish.

The Jain theory of Being appears thus to be merely the statement of the common-sense view, and it would be hard to believe that great importance was attached to it. Still it is regarded as the metaphysical basis of their philosophy Its significance comes out more clearly when we regard it in relation to the dectrines of *Syādvāda* and of the *Nayas*

Syādvāda is frequently used as a synonym of *Jainapravacana* (e.g. at a later date in the title of a well-known exposition of the Jaina philosophy entitled *Syādvāda-Mañjarī*); and it is much boasted of as the saving truth leading out of the labyrinth of sophisms The idea underlying the *Syādvāda* is briefly this Since the nature of Being is intrinsically indefinite and made up of the contradictory attributes of originating, continuance, and perishing, any proposition about an existing thing must, somehow, reflect the indefinitenass of Being; i.e. any metaphysical proposition is right from one point of view, and the contrary proposition is also right from another. There are, according to this doctrine, seven forms of metaphysical propositions, and all contain the word *syāt*, e g. *syād asti sarvam, syād nāsti sarvam* *Syāt* means 'may be', and is explained by *kathamcit*, which in this connexion may be translated 'somehow'. The word *syāt* here qualifies ths word *asti*, and indicates the indefiniteness of Being (or *astitvam*). For example, we say, a jar is somehow, i.e. it exists, if we mean thereby that it exists as a jar, but it does not exist somehow, if we mean thereby that it exists as a cloth or the like.

The purpose of these seeming truisms is to guard against the assumption made by the Vedāntins that Being is one without a second, the same in all things. Thus we have the correlative predicates 'is', (*asti*) and 'is not' (*nāsti*). A third predicate is 'inexpressible'

(*avaktavya*), for existent and non existent (*sat* and *asat*) belong to the same thing at the same time, and such a coexistence of mutually contradictory attributes cannot be expressed by any word in the language These three predicates variously combined make up the seven propositions or *sapta bhangas* of the Syādvāda I shall not abuse your patience by discussing this doctrine at length it is enough to have shown that it is an outcome of the theory of indefiniteness of Being (*anekāntavāda*) and to have reminded you that the Jainas believe the Syādvāda to be the key to the solution of all metaphysical questions

The doctrine of the Nayas which I mentioned before is, as it were the logical complement to the Syādvāda The nayas are ways of expressing the nature of things all these ways of judgement are according to the Jainas one sided, and they contain but a part of the truth There are seven nayas, four referring to concepts, and three to words The reason for this variety is that Being is not simple, as the Vedāntins believe but is of a complicated nature, therefore, every statement and every denotation of a thing is necessarily incomplete and one sided, and if we follow one way only of expression or of viewing things, we needs must go astray

There is nothing in all this which sounds deeply speculative on the contrary, the Jain theory of Being seems to be a vindication of common sense against the paradoxical speculations of the Upanisads It is also, but not primarily, directed against the Buddhistic tenet of the transitoriness of all that exists We cannot, however, say that it expressly and consciously combats the Buddhistic view or that it was formulated in order to combat it. And this agrees well with the historical facts that Mahāvira came long after the original Upanisads, but was a contemporary of Buddha He was obliged, therefore to frame his system so as to exclude the principles of Brahmanical speculation, but his position was a different one with regard to the newly proclaimed system of Buddha

I have not yet touched on the relation between Jain philosophy on the one hand and Sānkhya-Yoga on the other We may expect a greater community of ideas between these systems, since both

originated in the same class of religious men, viz the ascetics known as the Śramanas, or, to use the more modern term, Yogins. As regards the practice of asceticism, the methods and the aim of Yoga, it has long been proved that the Yoga of Brahmans, Jainas, and Bauddhas are closely related to each other, and there can be no doubt that they have all developed from the same source. But I am now concerned only with those philosophical ideas which have a connexion with ascetic practice and form the justification thereof.

Now the Sānkhya view as to the problem of Being is clearly a kind of compromise between the theory of the Upaniṣads and what we may call the common-sense view. The Sānkhyas adopt the former with regard to the souls or *puruṣas* which are permanent and without change. They adopt the latter when assigning to matter or Prakṛti its character of unceasing change. The Sānkhyas contend that all things besides the souls or *purusas* are products of the one Prakrti or primaeval matter, and similarly the Jainas teach that practically all things besides the souls or *jīvas* are made up of matter *pudgala*, which is of only one kind and is able to develop into every thing. It will thus be seen that the Sānkhyas and Jainas are at one with regard to the nature of matter; in their opinion matter is something which may become anything. This opinion, it may be remarked, seems to be the most primitive one; not only was it entertained by the ancients, but also it underlies the universal belief of transformation occurring in the natural course of things or produced by sorcery and spells. This is a point I wish to make, that the Sānkhyas and Jainas started from the same conception of matter, but worked it out on different lines. The Sānkhyas teach that the products of Prakṛti are evolved in a fixed order, from the most subtle and spiritual one (*Buddhi*) down to the gross elements, and this order is always reproduced in the successive creations and dissolutions of the world. The Jainas, on the other hand, do not admit such a fixed order of development of matter (*pudgala*), but believe that the universe is eternal and of a permanent structure. According to them matter is atomic, and all material changes are really going on in the atoms and their combinations. A curious feature of their atomic theory is that the atoms are either in a gross condition or in a subtle

one and that innumerable subtle atoms take up the space of one gross atom The bearing of this theory on their psychology I shall now proceed to point out But I must premise that the Jainas do not recognize a psychical apparatus of such a complex nature as the Sānkhyas in their tenet concerning Buddhi Ahamkāra, Manas, and the Indriyas The Jaina opinion is much cruder, and comes briefly to this According to the merit or demerit of a person, atoms of a peculiar subtle form, which we will call *karma* matter, invade his soul or *jīva*, filling and defiling it and obstructing its innate faculties The Jainas are quite outspoken on this point, and explicitly say that *karman* is made up of matter, *paudgalikam karma* This must be understood literally, not as a metaphor as will be seen from the following illustrations The soul or *jīva* is extremely light, and by itself it has a tendency to move upwards (*ūrdhvagaurava*), but it is kept down by the karma matter with which it is filled. But when it is entirely purged of karma matter at Nirvāna it goes upwards in a straight line to the top of the universe, the domicile of the released souls To take another example The karma matter within a soul may assume different conditions It may be turbulent as mud in water which is being stirred or it may be inactive, as mud in water when it has settled at the bottom of a basin, or it may be completely neutralized as when the clear water is poured off after the mud has been precipitated Here again it is evident that karma is regarded as a substance or matter, though of an infinitely more subtle nature than the impurities of water referred to in the illustration. As a third instance I will refer to the six *Leśyās* or complexions of the souls ranging from deepest black to shining white, colours which we common mortals cannot perceive with our eyes This doctrine was shared also by the Ājīvikas on whom Dr Hoernle[1] has thrown so much light These colours of the soul are produced on it by the karman which acts as a colouring substance Here also the material nature of karman is quite obvious

To return from this digression the karma matter that enters the soul is transformed into eight different kinds of karman, about which

---

1 Encyclopaedia of Religion and Ethics vol I pp 259 sq

I shall have to say a word presently. This change of the one substance into eight varieties of karman is likened to the transformation of food consumed at one meal into the several fluids of the body. The karma matter thus transformed and assimilated builds up a subtle body, which invests the soul and accompanies it on all its transmigrations, till it enters Nirvāṇa and goes up to the top of the universe. This subtle body or *kārmaṇaśarīra* is obviously the Jain counterpart of the *sūkṣmaśarīra* or *liṅgaśarīra* of the Sāṅkhyas[1]. In order to understand the functions of this subtle body or kārmaṇaśarīra, we must take a summary view of the eight kinds of karman of which it is composed. The first and second (*jñānāvaraṇīya* and *darśanāvaraṇīya*) obstruct knowledge and faith, which are innate faculties of the soul or *jīva*; the third (*mohanīya*) causes delusion, especially the affections and passions; the fourth (*vedanīya*) results in pleasure and pain; the fifth (*āyuṣka*) assigns the length of life to the person in his present birth; the sixth (*nāma*) furnishes him with all that belongs to him as an individual; the seventh (*gotra*) makes him a member of the class or genus which he is to belong to; the eighth (*antarāya*) produces hindrances to the realization of his virtues and powers. Each of these eight kinds of karman endures for a certain period, of varying length, within which it must take its proper effect. Then it is expelled from the soul, a process which is called *nirjarā*. The opposite process, the influx of karman into the soul, is called *āsrava*, a term well known to students of Buddhism. The occasions for āsrava are the actions of the body and mind (*yoga*); they open as it were an inlet for karma matter to invade the soul. If that soul is in a state of iniquity, i e. if the person under consideration does not possess right faith, or does not keep the commandments (*vrata*), or is careless in his conduct, or does not subdue his passions, then, in all these cases, singly or collectively, especially under the influence of the passions, the soul must retain the karma matter, or, as the Jainas says, binds it (*bandha*). But the influx of karma matter or āsrava can the prevented; this is called the stopping or *saṃvara*.

These primitive notions the Jainas have worked out into a philosophical superstructure, which serves just as well as that of the

1. The Jainas recognize four different sabtle bodies; see Tattvārth, ii, 37 sq'

Sānkhyas (but on different lines) to explain the problems of mundane existence and to teach the way of salvation In order to make this clear I must add a few more details

Saṃvara is effected i e the influx of karma is prevented by the observance of peculiar rules of conduct, by restraint of body, speech and mind by strict morality, by religious reflections by indifference to things pleasant or unpleasant, etc The most effective means, however is the practice of austerities (*tapas*), which has this advantage over the other means, that it not only prevents karma from accumulating, but also consumes the accumulated karma Tapas, therefore, produces also nirjarā and leads to Nirvāna it is the chief means of salvation, as might be expected in a religion of ascetics The denotation of the word 'tapas in Jainism is somewhat different from its usual meaning There is tapas of the body (*bāhya tapas*) and tapas of the mind (*ābhyantara tapas*) The former consists in fasting, or eating scanty and tasteless food, in want of comfort and in mortification of the flesh The mental tapas contains various items as confession of sins and penance, monastic duties, obedience modesty, self restraint and meditation (*dhyāna*) I wish to lay stress on the fact that in the course of asceticism taught by the Jainas meditation is only one of many steps leading to the ultimate goal Though Nirvāna is immediately preceded by the two purest stages of meditation, yet all other parts of tapas appear of equal importance We shall see the significance of this fact more clearly when we compare the Jaina tapas with what corresponds to it in Sānkhya-Yoga Their Yoga contains some of the varieties of Jaina tapas but they are regarded as inferior to meditation or contemplation Indeed the whole Yoga centres in contemplation, all other ascetic practices are subordinated and subservient to contemplation—*dharanā dhyāna* and *samādhi*. This is but natural in a system which makes the reaching of the *summum bonum* dependent on *jnāna*, knowledge The theory of the evolution of Prakṛti, beginning with Buddhi, Ahamkāra and Manas, appears to my mind, to have been invented in order to explain the efficiency of contemplation for acquiring supernatural powers and for liberating the soul Sānkhy Yoga is a philosophical system of ascetic, but their asceticism has been much refined and has become spiritualized in a high degree. The asceti-

cism of the Jainas is of a more original character; it chiefly aims at the purging of the soul from the impurities of karman Jainism may have refind the asceticism then current in India; it certainly rejected many extravagances, such as the voluntary inflicting of pains; but it did not alter its character as a whole. It perpetuated an older or more original phase of asceticism than the Brahmanical Yoga, and carries us back to an older stratum of religious life i which we can still detect relics of primitive speculation in the shape of such crude notions as I have had occasion to mention in the course of my paper.

In conclusion I shall shortly touch on the third current of Indian philosophical speculation, viz the philosophy of the Pandits which is represented to us by the Nyāya and Vaiśeṣika systems. This philosophy may be characterized as an attempt to register, to define, and to arrange in systematic order the concepts and general notions which are the common possession of all who spoke the Sanskrit language. Such a philosophy had some attraction for the Jainas who, as we have seen, always sided with common-sense views, and in fact many Jainas have written on Nyāya and Vaiśeṣika. But at the time when the Jain system was framed, the Pandit, as we know him in later times, had probably not yet become distinguished from the Vedic scholar or theologian; it is almost certain that there was as yet no class of persons who could be called Pandits, and consequently their philosophy also was wanting. And the tradition of the Jainas themselves says as much; for according to them the Vaiśeṣika system was founded by Chaluya Rohaguṭṭa, originally a Jaina and pupil of Mahāgiri, eighth Sthavira after Mahāvīra. Thus we have no occasion to inquire into the relation between this system and Jainism. But it may be mentioned that the atomic theory which is a marked feature of the Vaiśeṣika, is already taught in outline by the Jainas. As regards the Nyāya system, it is almost certainly later than Jainism; for the dialectics and logic of the Jainas are of a very primitive character, and appear entirely unconnected with the greatly advanced doctrines of the Naiyāyikas.

In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others; and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India.

प्रशस्ति-संग्रह

"प्रशस्ति संग्रह आद्योपान्त पढ़ा। इसमें ५४ शास्त्रों की प्रशस्तियां हैं। ग्रन्थ प्रशस्तियां इतिहास-निर्माण के बहुमूल्य साधन हैं। इतिहास अन्वेषकों के लिये प्रशस्ति-संग्रह की अत्यावश्यकता है। आपने बड़ी खोज और श्रम के साथ जो प्रशस्ति-संग्रह जनता के सामने रक्खा है, वह आप का अपूर्व कार्य है। उक्त संग्रह में करीब ४० ग्रन्थकर्त्ताओं का परिचय है। आप की इस खोज और विद्वत्ता से मैं ही नहीं बल्कि सारी जैन समाज आभारी रहेगी।"

—नरेंलाल शास्त्री, कुचामन

"प्रशस्ति-संग्रह लिखकर आपने जैनसाहित्य के महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों के समय निरूपण का बड़ा ही श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ को देखकर कोई भी व्यक्ति आप की विस्तृत ऐतिहासिक गवेषणा तथा अनुशीलन की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

जैन-सिद्धान्त-भवन द्वारा प्रकाशित अन्य ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य—अर्हद्दास [एक बहुत ही सुन्दर सरल एवं सरस जैन महाकाव्य]—अनु० पं० के० भुजबली शास्त्री तथा पं० हरनाथ द्विवेदी ३।)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिकशास्त्र [फलित ज्योतिष का एक अपूर्व जैन ग्रन्थ] अनु० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य १।=)

(३) प्रतिमा-लेख संग्रह [जैन इतिहासनिर्माण का एक उपयोगी साधन]— सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ।।।)

(४) वैद्यसार [रसायन सम्बन्धी एक अपूर्व जैन वैद्यक ग्रन्थ]— अनु० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ १)

(५) तिलोयपण्णत्ती मूल प्र० भाग [जैन-भूगोल सिद्धान्त विषयक एक सुन्दर प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० १)

(६) Jaina Literature In Tamil *by* Prof A. Chakravarti M A., I E S — Price Rr 2-12

THE PRAŚASTI SAMGRAHA

Edited by

Pt. K. Bhujabali Śāstri, Vidyābhūsan.

With an introduction by—Mahamahopādhyaya Dr. R. Shamshastri. pp 5+200+25=230 Price Rs. 1-8-0

'It is indeed a very valuable reference book, full of information and presented in a neat form.'

Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur.

'It is a very useful compilation. Very carefully prepared.'

Prof. D. L Narasimhachar, Mysore.

'You are doing real service to culture by publishing notes on literary works on Jainism and other works also hitherto unpublished.

Dr. S. Sheshgiri Rao, Vizianagaram

'The descriptive catalogue of Sanskrit Mss. will be highly useful publication when completed.'

Prof. Chintaharan Chakravarti, Calcutta.

'Thank you very much for the Copy of the Prasasti Samgraha, which will be of great use for my Catalogue work.'

Dr. Raghavan
University of Madras.

'Pras'astisamgraha, by Pt K Bhujabali Shastri. This is a good descriptive Catalogue of Sanskrit & Prakrit Mss.'

—The Poona Orientalist.

PRINTED BY D. K JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ११ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol X No II

Edited by

Prof Hiralal Jain M A LL.B
Prof A. N Upadhye M A D Litt.
B Kamata Prasad Jain M R. A. S.
Pt K. Bhujabali Shastri Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR INDIA

Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1/8

JANUARY, 1945

विषय-सूची

CONTENTS.

वार्षिक विषय-सूची

आवश्यक निवेदन

[illegible] के आदेशानुसार 'भास्कर' अत्यन्त [illegible] में पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें खेद हो रहा है। विषय अधिक रखने के कारण सफाई एवं सुन्दरता की ओर ध्यान नहीं दिया गया है, संभव है हमारे लेखक और पाठकों को यह पसन्द न आवे, पर यह हमारी लाचारी अवस्था है। हमने इतने कम पृष्ठों में सामग्री अधिक से अधिक देने का प्रयत्न किया है। कोटा वृद्धि के लिये भारतीय पेपर कन्ट्रोलर महोदय से हमारी लिखा पढ़ी चल रही है। हमें पूरी आशा भी है कि जैन समाज के हित को ध्यान में रखकर इस जैन इतिहास के उत्थापक पत्र के लिये हमारी प्रान्तीय सरकार पूरा कोटा देने की कृपा करेगी। हम अपने उन लेखकों से भी क्षमा याचना करते हैं, जिनकी रचनाओं एवं गवेषणाओं को इस अंक में स्थान नहीं दे सके हैं। साथ ही समालोचनार्थ ग्रन्थ भेजने वालों से भी निवेदन है कि जिन ग्रन्थों की समालोचना नहीं की गई है उनकी आलोचना कोटा मिल जाने पर अवश्य स्थान दी जायगी।

—व्यवस्थापक जैन-सिद्धान्त भास्कर

CONTENTS





श्रीजिनाय नमः



जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ११ | जनवरी, १९४५ । माघ, वीर नि० सं० २४७१ | किरण २

सोमदेवसूरि और महेन्द्रदेव

[ले०—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी]

नीतिवाक्यामृतके संस्कृत टीकाकारने लिखा है कि 'कान्यकुब्ज नरेश महाराजा महेन्द्रदेवने जो पूर्वाचार्य (चाणक्य) कृत अर्थशास्त्रकी दुर्बोधता और गुरुतासे खिन्न थे ग्रन्थकर्त्ता (सोमदेव) को इस सुबोध ललित और लघु नीतिवाक्यामृत की रचना करने में प्रवृत्त किया'[1]। इस पर मैंने लिखा था[2] कि महेन्द्रदेव का समय वि० सं० ९६४ तक है जब कि यशस्तिलककी रचना वि० सं० १०१६ में हुई है और चूंकि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्ति[3] में सोमदेवने अपनेको यशस्तिलक आदि ग्रन्थोंका कर्त्ता बतलाया है, इसलिए नीतिवाक्यामृत उससे भी पीछे रचा गया है, तब दोनों समसामयिक नहीं हो सकते।

'जैनसाहित्य और इतिहास' के प्रकाशित होने पर अबसे लगभग ढाई वर्ष पहले, जब कि मैं चालीसगाँवमें था, प्रज्ञाचक्षु पं० गोविन्दरायजी काव्यतीर्थने अपने एक कार्डमें अन्य समाचारोंके साथ यह संकेत किया कि यशस्तिलकमें एक दो स्थल ऐसे हैं जिनसे मालूम होता है कि सोमदेव महेन्द्रदेवसे परिचित थे और इसलिए संस्कृत टीकाकारकी बात

1—अत्र तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन कान्यकुब्जेन महाराजश्रीमहेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्यकृतार्थशास्त्रदुरवबोधग्रन्थगौरवखिन्नमानसेन सुबोधललितलघुनीतिवाक्यामृतरचनासु प्रवर्तितः

2—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ७७

3—इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पञ्चपञ्चाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंहतार्किकचक्रवर्तिवादीभपञ्चाननवाक्कल्लोलपयोनिधिकविकुलराजकुंजरप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालंकारेण, षण्णवतिप्रकरणयुक्तिचिन्तामणिस्तवमहेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं नीतिवाक्यामृतं परिसमाप्तम्।—स्याद्वादविद्यालय काशीकी हस्तलिखित प्रति जो आश्विन सुदी १० रविवार शक सं० १८३४ को मारकंडनिवासी रंगनाथभट्ट द्वारा लिखी गई है। मुद्रित प्रतिकी प्रशस्तिमें नाममात्रको दो चार शब्दोंका फर्क है।

सही हो सकती है। परन्तु उस समय न तो मेरे समक्ष यशस्तिलक था और न दूसरी साधन-सामग्री, इसलिए उक्त संकेतोंपर कुछ विचार न हो सका।

परन्तु इधर जब जैनसिद्धान्त भास्कर (भाग १० किरण २) में डॉ० वी० राघवन एम० ए०, पी-एच० डी० का लेख[1] प्रकाशित हुआ और उन्होंने भी महेन्द्रदेव और सोमदेवके समसामयिक होने पर जोर दिया, तब इस प्रश्नपर विचार करना आवश्यक हो गया।

पहले मैंने पं० गोविन्दरायजीके संकेतोंके अनुसार यशस्तिलकको टटोला और उसमें मुझे दो स्थल विचार करने योग्य मिले—

१—यशस्तिलकके मंगलाचरणके पहले ही पद्यमें महोदय अर्थात् कन्नौज और देव अर्थात् महेन्द्रदेवका संकेत मिलता है—

श्रियं कुवलयानन्दप्रसादितमहोदयः।
देवश्चन्द्रप्रभः पुष्याज्जगन्मानसवासिनीम ॥

यह श्लोक श्लिष्ट है। एक अर्थ होता है चन्द्रप्रभ तीर्थंकरके पक्षमें और दूसरा देव या महेन्द्रदेवके पक्षमें। 'कुवलयानन्दप्रसादितमहोदयः' अर्थात् पृथ्वीमंडलके आनन्दके लिए प्रसादित किया है महोदय[2] को या कन्नौजको जिन्होंने ऐसे महेन्द्रदेव और जिनका महान् उदय पृथ्वीमंडलको आनन्दित करनेके लिए हुआ है ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान्[3]।

२ यशस्तिलकके पहले आश्वासके अन्तमें—

सोयमाशार्पितयशः महेन्द्रामरमान्यधीः।
देयात्ते सन्ततानन्दं वस्त्वभीष्टं जिनाधिपः ॥

इस श्लोकके चारों चरणोंके प्रथम अक्षरोंमें ग्रन्थकर्त्ताने अपना 'सोमदेव' नाम प्रकट किया है। यह श्लोक भी श्लिष्ट है। एक अर्थ होता है जिनाधिपके पक्षमें और दूसरा सोमदेवके पक्षमे। सोमदेवके पक्षमें 'महेन्द्रामरमान्यधीः' विशेषण स्पष्ट ही बतलाता है कि उनकी बुद्धिका महेन्द्रामर या महेन्द्रदेव सम्मान करते हैं।

उक्त दोनों श्लोकोंसे इस बातका आभास मिलता है कि कान्यकुब्जनरेश महेन्द्रदेव-से सोमदेवसूरि परिचित थे और इसलिए उनकी प्रेरणासे नीतिवाक्यामृतका रचा जाना सम्भव है।

अब रहा समय के व्यवधानका प्रश्न सो डा० राघवनके कथनानुसार कन्नौजनरेश महेन्द्रपालदेव प्रथमकी जगह महेन्द्रपालदेव द्वितीयको मान लेनेसे हल हो जाता है।

१—नीतिवाक्यामृत आदिके रचयिता श्रीसोमदेवसूरि।

२—महोदयः कान्यकुब्जे—मेदिनी-कोष। कान्यकुब्जं महोदयं—हेमनाममाला।

३—कुवलयं पृथ्वीमंडलं तस्य आनन्दाय प्रसादितः प्रसन्नीकृत महान् अस्तमयरहित उदयो येन स तथोक्तः।—श्रुतसागरसूरि।

महेन्द्रपालदेव द्वितीयका एक शिलालेख[1] वि० स० १००३ का प्राप्त हुआ है और दूसरा वि० स० १००५ का उसके उत्तराधिकारी देवपालदेव[2] का। अतएव १००५ के पहले ही नीतिवाक्यामृतकी रचना हुई होगी।

परन्तु वि० स० १०१६ में समाप्त हुए यशस्तिलकका उल्लेख नीतिवाक्यामृतकी अन्तिम प्रशस्तिमें है, इसलिए नीतिवाक्यामृतको १०१६ के बादका मानना पड़ता है और तब द्वि० महेन्द्रदेव उसके प्रेरक नहीं बन सकते।

इस पर डा० राघवन कहते हैं कि "एक ग्रन्थकर्त्ताकी रचनाओंका उल्लेख उसके अन्य ग्रन्थकी प्रशस्तिमें होने पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता, अर्थात् यह मानना बिल्कुल निरापद नहीं है कि चूँकि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें यशस्तिलकका उल्लेख है, इसलिए यह उसके बादकी रचना है। यह तभी मान्य हो सकता है कि जब यह निश्चय हो जाय कि लिपिकर्त्ताओंने सन्धियों और प्रशस्तियोंमें हस्तक्षेप नहीं किया है।"

बेशक यह सम्भव है कि सोमदेवकी समस्त रचनाओंसे परिचित लिपिकर्त्ताने अपनी जानकारीके आधारपर प्रशस्तिमें यशस्तिलकका भी नाम शामिल कर दिया हो। लिपिकारोंने इस तरहकी गड़बड़ेंकी भी हैं। फिर भी इसके लिए एकाध प्रमाण और भी चाहिए जिससे इस बातकी पुष्टि होती हो कि नीतिवाक्यामृत पहलेकी रचना है।

अभी तक मुझे एक ही प्रमाण ऐसा मिला है और वह यह कि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें सोमदेवने अपने गुरु नेमिदेवको पचपन महावादियोंको पराजित करनेवाला बतलाया है और यशस्तिलककी प्रशस्तिमें तिरानवे[3] महावादियोंको जीतनेवाला। यदि उक्त संख्यायें सचाईके साथ लिखी गई हैं, अन्धाधुन्ध अतिशयोक्तियाँ नहीं हैं, तो इनसे यह सिद्ध हो जाता है कि नीतिवाक्यामृत यशस्तिलकसे पहले बन चुका था। नीतिवाक्यामृत की रचनाके समय तक नेमिदेवने ५५ वादियोंपर विजय प्राप्त की थी और फिर उसके बाद यशस्तिलककी रचनाके समय तक ३८ वादियोंको और भी जीता। यदि नीतिवाक्यामृत पीछे बना होता तो उक्त संख्यायें इससे उलटी होतीं।

एक बात और है। यदि नीतिवाक्यामृत यशस्तिलकके बादका होता तो, चूँकि वह शुद्ध राजनीतिका ग्रन्थ है, इसलिए किसी राष्ट्रकूट या चालुक्य राजाके लिए ही लिखा जाता और इसका उसमें उल्लेख भी होता। परन्तु ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। डा० राघवन प्रथम महेन्द्रपालदेवके लिए भी नीतिवाक्यामृतका रचा जाना असम्भव नहीं समझते, परन्तु महेन्द्रदेव प्रथमके शिलालेख और ताम्रपत्र वि० स० ९५० से ९६४ तक मिले हैं और उनके उत्तराधिकारी महापालका वि० स० ९७१ का लेख मिला है। अतएव नीतिवाक्यामृतको जब वि० स० ९६४ के लगभग लिखा गया माना जाय, तब कहीं संस्कृत टीकाकारकी बात ठीक बैठे, परन्तु यह समय यशस्तिलककी रचनाके ५२ वर्ष पहले जा पहुँचता है और

1 2—देखो ओझाजीका 'राजपूतानेका इतिहास' प्रथम खंड, पृ० १६४

3—तस्याभवत्तप स्थिते स्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनाम्। —यशस्तिलक

चूँकि सोमदेव कमसे कम वि० सं० १०२३ तक जीते रहे हैं जिस समय कि लेमुलवाड़[1] का दानपत्र लिखा गया था। इसलिए नीतिवाक्यामृतको उनकी बहुत बाल्यकालकी रचना मानना होगा जो कि उसकी प्रौढ़ता गम्भीरताको देखते हुए ठीक नहीं जँचता।

नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें सोमदेवने अपनेको 'महेन्द्रमातलि-संजल्प' ग्रन्थका भी कर्त्ता बतलाया है। यह ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है, परन्तु इसका नाम भी उनके और महेन्द्रदेवके परिचयकी ओर संकेत करता है। आश्चर्य नहीं जो उक्त ग्रन्थमें कन्नौज-नरेश महेन्द्रदेव और उनके सारथीका ही राजनीतिसम्बन्धी कथोपकथन लिपिबद्ध किया गया हो। 'मातलि' शब्द इन्द्रके सारथीके अर्थमें और सारथी मात्रके लिए व्यवहृत होता है। महेन्द्र-मातलिका प्रयोग भी श्लिष्ट जान पड़ता है। महेन्द्रसे देवराज इन्द्र और कन्नौजनरेश महेन्द्रदेव दोनोंका बोध हो सकता है।

महेन्द्रदेव द्वितीयकी प्रेरणासे नीतिवाक्यामृत लिखा गया होगा, इसकी संभावनाको एक और उल्लेखसे बल मिलता है।

प्रथम महेन्द्रदेवके पुत्र और द्वितीय महेन्द्रदेवके पितृव्य महीपालदेवके दो शिलालेख[2] वि० सं० ९७१ और ९७४ के मिले हैं। राष्ट्रकूट इन्द्रराज तृतीय (नित्यवर्ष) से इसका युद्ध हुआ था जिसमें राठोड़ोंके कथनानुसार महीपाल हार गया था। 'चण्डकौशिक' नाटककी प्रस्तावनामें आर्य क्षेमीश्वरने लिखा है—

"आदिष्टोस्मि श्रीमहीपालदेवेन यस्येमां पुराविदः प्रशस्तिगाथामुदाहरन्ति—

उन महीपालदेवने मुझे आज्ञा दी है, पुराविद् लोग जिनकी इस प्रशस्ति गाथाको उद्धृत करते हैं

यः संश्रित्य प्रकृतिगहनामार्यचाणक्यनीतिं जित्वा नन्दान्कुसुमनगरं चन्द्रगुप्तो जिगाय।
कर्णाटत्वं ध्रुवमुपगतानद्य तानेव हन्तुं दोर्दर्पाढ्यः स पुनरभवच्छ्रीमहीपालदेव.॥

अर्थात् जिस चन्द्रगुप्तने स्वभावसे ही गहन आर्य चाणक्यकी नीतिका आसरा लेकर नन्दको जीता और कुसुमपुर (पटना) में प्रवेश किया, वही चन्द्रगुप्त कर्नाटकमें जनमे हुए उन्हीं नन्दों (राष्ट्रकूटों) को मारनेके लिए फिरसे महीपालदेवके रूपमें अवतरित हुआ है।

इससे मालूम होता है कि राठोड़ोंपर चढ़ाई करते समय महीपालने आर्य चाणक्यकी नीति अर्थात् चाणक्यके अर्थशास्त्रका अवलम्बन किया था और उसे आर्यक्षेमीश्वर प्रकृति-गहन बतलाते हैं, तब आश्चर्य नहीं जो उनके उत्तराधिकारी महेन्द्रपालदेव (द्वितीय) ने उसी गहन अर्थशास्त्रको सोमदेवसूरिसे कहकर सुगम और लघु बनानेके लिए कहा हो।

सोमदेवसूरिने यशस्तिलककी रचना राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयके समयमें उनके चौलुक्य-वंशी सामन्त वद्दिगकी राजधानीमें की थी और उनके पुत्र अरिकेसरीने अपने पिताके बनवाये हुए 'शुभधाम जिनालय' के लिए सोमदेवको दान भी दिया था। ऐसी दशामें प्रश्न होता है कि सोमदेव दक्षिण कर्नाटकसे उतनी दूर उत्तरके कन्नौजके राजाओंके सम्पर्कमें कैसे आये होंगे?

१—देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ९०-९२ २—इं० ए० जिल्द १२, पृ० १९३-९४

डा० राघवनने बतलाया है कि राष्ट्रकूटोंका कन्नौजके प्रतिहारोंसे बहुत सम्बन्ध रहा है। ऊपर जिस महीपालदेवका उल्लेख किया गया है, म० म० प्रो० ओझाजीके अनुसार उस राष्ट्रकूट गोविन्द चतुर्थकी कन्या ब्याही गई थी[1] और उसीके समय में वि० सं० ९७१ में राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीयने कन्नौजको नष्ट भ्रष्ट किया था। कन्नौजके इस आक्रमणमें चौलुक्य सामन्त नरसिंहने भाग लिया था जिसके पोते वद्दिगकी राजधानीमें यशस्तिलक पूर्ण हुआ था। बद्दिगके पिता अरिकेसरी जैनधर्मके अनुयायी थे, संभव है पितामह नरसिंह भी जैनधर्मपर प्रीति रखने वाले हों और इसलिए उनकी प्रेरणा या प्रार्थनासे सोमदेवके संघ का दक्षिणकी ओर आना सर्वथा संभव है। पहले वे उत्तर भारतमें ही रहे होंगे।

सोमदेवके दादा गुरु यशोदेव गौडसंघके थे। मैंने उस समय कल्पना की थी कि कर्नाटकका गोल्लदेश ही शायद गौड हो, परन्तु डा० राघवनने बतलाया है कि गौडसंघ गौड या बंगालका ही होगा। और अब यह मुझे भी ठीक मालूम होता है।

आचार्य जिनसेनके पुन्नाट संघके विषयमें विचार करनेके बाद मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि जिन जैन संघोंके नाम देशवाची हैं वे उस देशसे बाहर अन्यत्र जाने पर ही उस नामसे प्रसिद्ध हुए हैं। पुन्नाट (कर्नाटक) का संघ पुन्नाटसे बाहर जब काठियावाड़में जा रहा, तब पुन्नाट संघ कहलाने लगा। संघोंके माथुरसंघ, लाडबागड संघ आदि नाम भी इसी तरह प्राप्त हुए हैं। सो यशोदेवका संघ पहले गौडदेशमें होगा और वहाँसे निकलनेपर ही वह गौडसंघ कहलाया होगा।—

म० म० ओझाजीके अनुसार प्राचीन कालमें गौड[2] नामके दो देश थे। एक तो पश्चिमी बंगाल और दूसरा उत्तरी कोसल अर्थात् अवधका एक भाग। कन्नौजका साम्राज्य उस समय बहुत दूर दूर तक फैला हुआ था, गौडपर भी उसका अधिकार रहा है, अतएव यशोदेवका गौडसंघ उस समयकी प्रसिद्ध राजधानी कन्नौजमें विहार करते करते पहुँच सकता है और प्रतीहार राजाओंके सम्पर्कमें आ सकता है। सोमदेवसूरि पर भी कन्नौज नरेशकी दृष्टि पड़ सकती है और वे उनसे अपने लिये नीतिवाक्यामृतकी रचना करा सकते हैं।

सारांश यह कि (१) नीतिवाक्यामृतकी रचना कन्नौजके प्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपालदेव की प्रेरणासे हो सकती है और वह बहुत करके द्वितीय महेन्द्रपालदेव होगा। (२) सोमदेव-का संघ मूलमें गौड देशका था, यशोदेवके नेतृत्वमें वह गौडसे बाहर कन्नौज तरफ गया होगा और वहाँ यशोदेवके प्रशिष्य सोमदेवके पाण्डित्यका महेन्द्रदेवपर प्रभाव पड़ा होगा। (३) राष्ट्रकूटों और चालुक्य सामन्तोंके परिचय या प्रार्थनासे सोमदेव उत्तरसे ही दक्षिणकी तरफ आकर रहे होंगे।

[३-७-४४ बम्बई]

१—राजशेखरकी कर्पूरमंजरीका कुन्तलेश्वर वल्लभराज राष्ट्रकूट गोविन्द चतुर्थ था।

२—राजपूतानेका इतिहास, पहला खंड, पृ० २४०

भट्टारक यशःकीर्ति

[ले०—श्रीयुत पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

दिगम्बर सम्प्रदाय में यशःकीर्ति नाम के अनेक विद्वान् हो गए हैं*। परन्तु यहां जिन यशःकीर्ति का परिचय पाठकों को कराया जा रहा है वे उन सबसे भिन्न प्रतीत होते हैं। यह यशःकीर्ति भट्टारक थे, जो काष्ठासंघ के माथुरान्वय और पुष्करगण में भट्टारक सहसकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले भ० गुणकीर्ति के शिष्य और लघु भ्राता थे। जैसा कि उनके 'हरिवंश पुराण' की प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है : –

इह कट्ठसघे माहुरहं गच्छे, पुक्खरगणे मुणिवर चइ वि लच्छे।
संजायो वीरजिणुक्कमेण, परिवाडिए जइवर णिहयएण
सिरिदेवसेणु तह विमलसेणु मुणिधम्मसेणु तह भावसेणु।
तहो पट्टि उवरणउ सहसकित्ति, अणवरय भमिय जए जासु कित्ति।
तहो सीसु सिद्ध गुणकित्ति णामु, तव तावें जासु सरीर कामु।
तहो बंधउ जस मुणि सीसु जाउ, आयरिय सुपणणासिय दोसु राउ॥"

यह पट्ट गोपाचल (ग्वालियर) मे प्रतिष्ठित था और इसने तोमरवंशीय राजा डूंगरसिंह के राज्य मे खूब प्रसिद्धि प्राप्त की थी। राजा डूंगरसिह इस वंश का वहुत प्रतापी एवं पराक्रमी शासक हुआ है। इसे जैन धर्म से विशेष प्रेम था। इसकी पट्ट महिषी का नाम

---

*एक यश.कीर्ति जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला के कर्ता जो बागडसंघ के भ० विमलकीर्ति के शिष्य और रामकीर्ति के प्रशिष्य थे।

दूसरे भ० विश्वभूषण के शिष्य जो माथुर संघ के नंदी वरगण के हैं।

तीसरे प्रबोधसार के कर्त्ता हैं।

चौथे माघनन्दि तथा गोपालनन्दि के शिष्य; इनका परिचय 'जैन लेख संग्रह के ५५ वें लेख में मिलता है।

पांचवें भ० सकलकीर्ति के शिष्य और मूलसंघ के भट्टारक पद्मनन्दी के प्रशिष्य तथा भ० शुभचन्द्र के गुरु थे।

छठवें यश कीर्ति 'धर्मशर्माभ्युदय' की 'संदेहध्वान्तदीपिका' टीका के कर्त्ता, जो भ० ललितकीर्ति के शिष्य थे।

सातवें भ० रतनचन्द्र के दीक्षित शिष्य और भ० गुणचन्द्र के गुरु।

आठवें नेमिचन्द्र के पट्ट शिष्य।

नौवें हेमचन्द्र के प्रपट्ट और पद्मनन्दी के पट्ट शिष्य तथा जो भ० क्षेमकीर्ति के गुरु थे।

चंदादे था जो गुणवती और रूपवती थी। इनके पुत्र का नाम कीर्तिसिंह था,× जो अपने पिता के समान ही सुयोग्य शासक और पराक्रमी वीर था। इनके राज्यकाल में कितनी ही जैन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की गई, और जैन मंदिरों तथा जैन ग्रन्थों का निर्माण-कार्य हुआ था। भट्टारक यशःकीर्ति ने वि० सम्वत १४८६ में इन्हीं राजा डूगरसिंह के राज्यकाल में कविवर विबुध श्रीधर के 'भविष्यदत्तचरित्र' संस्कृत की एक प्रति अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ लिखाई थी जैसा कि उसकी निम्न लिखित पुष्पिका से प्रकट है —

"संवत् १४८६ वर्षे आषाढवदि ९ गुरुदिने गोपाचलदुर्गे राजा डूगरसीह (सिंह) राज्यप्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्यश्रीसहसकीर्तिदेवास्तत्पट्टे आचार्यश्रीगुणकीर्तिदेवास्तच्छिष्यश्रीयशःकीर्तिदेवास्तेन निजज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं इदं भविष्यदत्तपंचमीकथा लिखापितम् ॥"

ऊपर की लेखक पुष्पिका से स्पष्ट है कि सं० १४८६ में डूगरसिंह का राज्य था, और यह राज्यसत्ता उक्त संवत से पहले ही किसी समय राजा डूगरसिंह के हाथ में आई थी, तथा सं० १५१० के मूर्ति लेख से यह भी प्रकट है कि उस समय तक ग्वालियर में डूगरसिंह का ही राज्य था, किन्तु सं० १५२१ से पहले ही राज्यसत्ता उनके पुत्र कीर्तिसिंह के हाथ में आ गई थी। भट्टारक यशःकीर्ति सं० १४८६ तक भट्टारक पद पर आसीन नहीं हुए थे। यशःकीर्ति विद्वान् थे, और अपभ्रंश भाषा में ग्रन्थ-रचना करने में प्रवीण थे। कविवर रइधू ने जो इनके ही समकालीन थे, यशःकीर्ति के शिष्यों के अनुरोध से कितने ही ग्रन्थों की रचना की है और ऐसा करने में यशःकीर्ति ने अनुमति प्रकट की है। रइधू ने अपने सन्मति चरित्र में यशःकीर्ति का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है —

"भव्वकमल सरवोह पयंगो, वंदिवि सिरि जसकित्ति असंगो।"

रइधू ने अपना सुकौशलचरित्र सं० १४९६ में बनाया था उसके ठीक एक वर्ष बाद भ० यशःकीर्ति ने सं० १४९७ में पाण्डवपुराण की रचना की है। इनके जीवन सम्बन्ध की यद्यपि किसी घटना का और न जीवन चर्या विषयक ही कोई उल्लेख मुझे प्राप्त हो सके। परन्तु फिर भी इनका समय विक्रम की १५ वीं शताब्दि का उत्तरार्ध सुनिश्चित है।

भ० यशःकीर्ति ने 'पाण्डव पुराण' की रचना साधु वील्हा के पुत्र हेमराज की प्रेरणा से की है। यह योगिनीपुर (दिल्ली) के निवासी थे और अग्रवाल वंश में उत्पन्न हुए थे। ग्रन्थ कर्ता ने यह ग्रन्थ इन्हीं के नामांकित किया है। ग्रन्थ में हेमराज की प्रशंसा करते हुए

× तहिं डूंगरिंदु णामेण राउ, अरिगण सिरसिरि मद्दिन्न घाउ।
तसु णंदणु जो कीत्तिंदु सिंधु, पयवइ सिस्वइ णाविय वहु।
तह पट्ट धरणि णं रूब खाणि, णामें चंदाणे णइ सुदरणि।
तहु पुत्त कित्ति सिंधु वि गुणालु, जो राइयीव आणण मराल। —पद्मपुराणे कवि रइधू
उद्धृतो अनेकान्त।

श्रीनकाडेजी ने लिखा है कि भंडारा पुराने जमाने में भंडार वस्ती नाम से प्रसिद्ध था। यदि वस्ती का अर्थ जैनमंदिर लिया जावे तो यह नाम ही भंडारा के जैनत्व का सूचक है और जब हम भंडारा और उसके आसपास जैन कीर्त्तियों को बिखरा पाते हैं तो, इस जन श्रुति को तथ्यपूर्ण पाते हैं कि भंडारा जैन वस्ती था। सन् १७३६ में यहां के शासक श्रीदौलतसिंहजी थे; जिनकी रानी रतनकुमारी थी। इस राज दम्पति ने नागपुर के राजा रघुजी भोंसले की सहायता की थी और दोनों ही रणभूमि में वीरगति को प्राप्त हुए थे। तब से भंडारा स्वतन्त्र राज्य न रह कर नागपुर राज्य में मिला लिया गया।

पुराने जमाने में लोग कहते हैं कि, यहां नन्द नाम का राजा राज्य करता था, जिसका उत्तराधिकारी यदु हुआ। यदु के पश्चात् भानु नाम का राजा प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं भानु राजा के नाम से भानुनगर बसाया गया। भानुनगर का अपभ्रन्श 'भानार' है, जो भंडारा का पुराना नाम है।

भंडारा का किला बहुत पुराना है--उसके परकोट की दीवाल इतनी चौड़ी है कि उस पर मोटर चल सकती है। किले में ऊपर चांदशाह की कब्र है। इस किले में पांच-छः बुर्ज़ हैं। आठ-नौ महीने हुये जब एक बुर्ज गिर गया और उसका जीर्णोद्धार किया जाने लगा। उस समय मलवे को खोदने में मजदूरों को दो-तीन दिगम्बर जैन मूर्तियाँ मिलीं। मलवे को हटाते हुए कैदियों की असावधानी से ये मूर्तियां खंडित हो गईं हैं। एक खड्गासन मूर्ति ५-६ फीट ऊंची है— खेद है, उसका शीश खंडित है। किले में कैदी होशियार शिल्पी था उसने सीमेंट का शीश बनाकर मूर्ति में लगा दिया है। यह मूर्ति जेल के सामने वड़ के वृक्ष के सहारे रक्खी हुई है। मूर्ति के निम्न भाग में एक भक्त दम्पति हाथ जोड़े खडे हैं, जो राजा और रानी हो सकते है। वस्त्र कमर से ऊपर नहीं हैं। स्त्री चोली पहने हुये है—उसके केशपास सुंदर और सुरक्षित हैं। मूर्ति का आसन खंडित होने के कारण उसका लेख यदि था तो नष्ट होगया है। इस मूर्ति के साथ दो अन्य मूर्तियां भी रक्खीं हुई हैं, किन्तु वे बिल्कुल टूटी-फूटी हैं। उनमें एक संभवतः आदिनाथजी की और दूसरी २४ सी पट है। किले के अन्दर दीवारों में बहुत-सी जिन मूर्तियां लगा दीं गई हैं। कभी कभी यहां दैवी चमत्कार दिखते थे; परन्तु पशुबलि देना जब से लोगों ने प्रारम्भ किया तभी से वह बंद हो गये। किले में एक लेख भी है; परन्तु बहुत ऊंचे पर है, इसलिए उसकी प्रतिलिपि नकाड़ेजी नहीं भेज सके। उस लेख की नकल यदि प्राप्त हो सके तो इस किले के इतिहास पर प्रकाश पड़े। हमने यवतमाल के श्रीमहाजनजी को लिखा है कि वह इस स्थान का निरीक्षण करें। यदि वह गये और लेख की प्रतिलिपि ले आये, तो इतिहास का अच्छा कार्य होगा। कहते है, इस किले में कई भोंहरे रामटेक, पवनी, अम्बागढ़ आदि की ओर गये है। रामटेक की ओर जो भोंहरा गया है उसी के पास से उपर्युक्त मूर्तियां मिली है। नकाड़ेजी को एक पुलिसमैन ने बताया था कि वह उस भौंहरे के भीतर कुछ दूर तक गया और उसने उसमें कई जैन मूर्तिया रक्खीं हुई देखी है। किले के भूगर्भ से लोगों को सम्पत्ति भी मिली है।

भडारा में किले के अतिरिक्त 'खाम तालाब' भी एक प्रसिद्ध स्थान है, जिसके चारों तटों पर एक एक पुराना मदिर बना हुआ है। दक्षिण में देवी का, पश्चिम में दत्त का, और उत्तर में महादेव का मदिर है। दक्षिण दिशावाले देवी के मदिर में आदिनाथ प्रभु की एक मूर्ति है और दूसरी मूर्ति चौबीस तीर्थंकरों की खडित है। मन्दिर के आगे कई सिर मूर्तियों के टूटे हुये पडे हैं। यह किसी विधर्मी की अजानता का परिणाम है। इनमें नागे लोग रहते हैं। अधिक परिताप का विषय तो यह है कि अहिंसा के अवतार तीर्थंकरों की इन मूर्तियों के आगे निरापराध बकरों की बलि चढाई जाती है। यह जैन शासन के घोर अध पतन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। नकाड़ेजी लिखते हैं कि इस अधर्म को मेटिये। इन मूर्तियों के चित्र प्लेट न० २ में अङ्कित हैं।

खाम तालाब से उत्तर की ओर तीन-चार फर्लांग पर 'बालपुरीश मठ' नामक स्थान है। यहा एक मन्दिर और चार छत्रिया गुम्मजवाली हैं। छत्रियों की प्रत्येक महराव (Arch) पर हाथी, घोड़ा, मछली आदि २४ चिह्न हैं, जो इसका जैन सम्बन्ध प्रकट करते हैं। मन्दिर में दो खडित जिनमूर्तिया एक ओर पड़ी हुई हैं। बाहर के सिंहद्वार के हाथी पर दो मूर्तिया ढाल-तलवार लिये अकित है। अब इस मन्दिर में महादेव जी स्थापित किये गये हैं।

भडारा जिले में करीब चार हजार जैन कलार रहते हैं, जो कलचूरी राजाओं के वशज अनुमान किये गये हैं। परदेशी कलारों की सख्या भी ४५ हजार है। सानगड़ी, लाखणी और अडयाल में जैन कलारों की बस्ती अधिक है।

भडारा और पवनी वेनगगा के तट पर बसे हुये हैं। नकाडे जी वेनगगा को वेगवती नदी और पवनी को पोदनपुर अनुमान करते हैं। भडारा के पास ही कई पहाड़ियों में बहुत से पुराने भोंहरों के कारण यह प्रदेश भूताचल के नाम से प्रसिद्ध था। कमठ ने भूताचल पर्वत पर ही वास किया था। अत यह स्थान बहुत प्राचीन है।

सानगड़ी में भी जैन मूर्तिया भग्नावस्था में पड़ी हुई हैं। अडौल नामक ग्राम से चार मील दूर भारुल गाव है। वहाँ एक धीमर के घर में दो तीन जिन मूर्तिया भूगर्भ से निकली थीं, जो अब भी उसके यहा मौजूद हैं। वर्धा के श्रीहिरासाव चवडे ने उनको देखा है।

निस्सन्देह भडारा जिला प्राचीनकाल से जैनधर्म का केन्द्र रहा प्रतीत होता है—एक समय वहाँ जैनधर्म का गौरवशाली अस्तित्व था। यदि इस जिले के जैन मन्दिरों में विराजमान जिन मूर्तियों के लेखों और शास्त्रों की प्रशस्तियों का सग्रह यवतमाल का जैन सशोधक मडल कर सके तो इस प्रान्त का जैन इतिहास प्रकट हो सकता है। नकाड़ेजी का आभार हम पुन स्वीकार करते हैं।

नोट—लेखक ने 'भास्कर' में प्रकाशित करने के लिये दो चित्र भी भेजे थे, पर आर्टपेपर न मिलने से हम चित्रों को प्रकाशित नहीं कर सके हैं।

—व्यवस्थापक

गुणभद्रप्रशस्ति

श्रीमल्लेखाचलोद्यच्छिखरगतलसत्पाण्डुकम्फारपीठे ।
देवेन्द्रानूनबाहोर्भरनमितमहाग्लकुम्भप्रपूर्णैः ।
दुग्धाम्भोराशिनीरैस्सकलगुणनिधिः स्नापितस्तापनोपः ।
पायाद् भव्यानजस्रं वृषभजिनपतिः श्रीपतिर्भूपतीशः ॥

देव, स्वस्ति समस्तवस्तुविस्तारकवाग्मोघनिभमुखचतुर्गोकायामरविपुलतरम्लतिलमौलितन-कीलितमाणिक्यमयूखमालालंकृतकमकमलयुगलस्य, विंशतिसहस्रसोपानविराजमानधूलीशालाद्ये-कादशभूम्यभिरामधनदविरचितसमवसरणसरोजिनीविराजमानराजहंसावतारस्य, श्रीमदादिपरमेश्व-रस्य मुखकमलविनिर्गतपंचास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थपारावारपारायणश्रीमद्वृषभसेनान्वये-पारंपर्यागते श्रीमदुज्जैनीमहीकलशस्थानन्निगमहीधरं वागूवज्रदण्डेन विस्फाटयाविर्म[र्क्]-तश्रीपार्श्वतीर्थेश्वरप्रतिच्छन्दश्रीसिद्धसेनार्याणां. नवलक्षतेलुंगदेशाभिरामद्राक्षारामलिंग(?)स्वयं-भ्वादिस्तोत्रटंकोत्कीर्णरुन्द्रचन्द्रचन्द्रिकाविशदयशोगश्रीचन्द्रजिनेन्द्रसम्यग्दर्शनसमुत्पन्नकौतूहल-कलितशिवकोटिमहाराजतपोराज्यस्थापनाचार्यश्रीमत्समन्तभद्राचार्याणां, सकलगुणमार्गगणाभर-णभूषितश्रीशिवकोटिभट्टारकाचार्याणां, यादवकुलतिलककुमारदीक्षितारिष्टनेमिक्रीडानिवासरैव-तपर्वतकाञ्चनगुहायां श्रीमत्सिद्धचक्रयंत्रोद्धारभारधुरंधरश्रीवीरसेनभट्टारकाचार्याणां, धवलमहा-धवलजयधवलविजयधवल(?)महापुराणादिसकलग्रंथकर्तृश्रीजिनसेनाचार्याणा, बद्धाष्टकर्मनिर्घा-टनपटुशुद्धेद्धराद्धान्तप्रभावोधितनवखण्डमण्डलश्रीनेमिसेनसिद्धान्तिकाचार्याणां, अतीवघोरतर-संसारतपनसंतप्तत्रैलोक्यप्राणिगणतापनिवारणकारणच्छत्रायमाणश्रीछत्रसेनाचार्याणां, उग्रदीप्त-तप्तमहातपोनियुक्तजिनसेनाचार्याणां, संयमसम्पन्नश्रीलोलसेनभट्टारकाचार्याणां, नवविधब्रह्मचर्य-व्रतपूर्वकपरब्रह्मध्यानाधीनब्रह्मसेनमहातपोधनानां, षड्जीवनिकायकैरवामृतस्यन्दिचन्द्रोदयायम-[मा]नोदयसेनमुनीश्वराणां, उभयपरिग्रहत्यक्तोभयतपःकामिनीकन्दर्परूपावतारद्वादशांगचतुर्द-शपूर्वपंचप्रज्ञप्तिपंचविधदृष्टिवादांगादिसकलश्रुतपारावारपरायणसकलगुणगणाभरणगुणभद्राचार्या-णां, भव्यजनकमलसूरसूरसेनाचार्याणां, काष्ठसंघसंश[श्र]यतपोनिमग्नाशाधरश्रीमूलसंघोपदेशक-पितृवनस्वपर्यात्मक (?)म [ब]लभद्रभट्टारकाचार्याणां, सारत्रयसम्पन्नश्रीदेवेन्द्रसेनमुनिमुख्यानां, विहलिनगरीप्रवेशसमयशिरःकम्पारिष्टखानबाणबाधाप[ह]रणगंगामध्यपट्टाभिषेकनिरूपकत्रैविद्यकु-मारसेनयोगीश्वराणां, अंगवादिविभंगशीलकलिंगवादिकालानलकाश्मीरवादिकल्पान्तभीष्मनेपाल-वादिशापानुग्रहसमर्थगौडवादिगण्डभेरुण्डगूर्जरवादिमेघस्फूर्जज्झंझानिलहम्मीरवादिब्रह्मराक्षसचो-लवादिकोलाहलद्राविडवादिताडनसुशीलतेलुंगवादिकलंकारिदुस्तरवादिमस्तक[क]शूलवोड्डि-देशेश्वरराजपतिसभासन्निविष्टप्रचण्डयमदण्डशुण्डालदण्डखण्डनकालदण्डमण्डलदोर्दण्डमण्डि-तश्रीदुर्लभसेनाचार्याणां, शौरशाक्तिकापालिकचार्वाकमीमांसकवेदान्तवैशेषिकभाट्टप्रभाकरकाणा-दपत्याद्यखिलतार्किकदुस्तरतर्ककर्कशबौद्धद्वात्रिंशद्घटवादविघटनपटुगौडवादिगण्डभेरुण्डधरसेना-चार्याणां, तपःश्रीकर्णावतंसश्रीषेणभट्टारकाचार्याणां, दुर्वारदुर्वादिसर्वगर्वपर्वतचूर्णीकृत[करण]-कुलिशायमानदक्षपक्षराजलक्ष्मीसेनभट्टारकाचार्याणां, नवलक्षधनुर्धरादिशा[सां]द्रसप्तलक्षद-क्षिणकर्णाटकराजेन्द्रचूडामणिमौक्तिकमालाप्रभामरधुनीजलप्रवाहप्रक्षालितचरणनखसोमसेनभट्टा-

रकाचार्याणा, श्रकुगुलेश्वरपुराद्भग्वत्सनगरीराजाधिराजरानपरमेश्वश्रीयरनराजशिरोमणिमहमुदसाहसुरत्राणममम्यपुराणद(?)खिलदष्टिनिहतेनाष्टादशवर्षप्रायप्राप्तदेवलोकश्रीश्रुतवीर्यस्वामिनां, जम्मेरुपुरदजिनेश्वर(?)भट्टाष्टभूष्टीकृतानलनिश्चितयज्ञोपवीतवादविजिनजयसिंहब्रह्मदेवमद्धर्मशर्म - कर्मनिर्मलान्न करणश्रीधरमेनाचार्याणा, हावभावविलासविभ्रमशृंगारभंगीसमालिंगितबालमुग्धयौवनविदग्धाखिलब्रह्मचर्यव्रतोपेतदेवसेनभट्टारकाचार्याणा, पट्टोदयाचलप्रभाकरश्रीमूलसंघवृषभसेनान्वयमेनागणाग्रगण्याना, श्रीमद्रायराजगुरुवसुन्धराचार्यवर्यमहावाद्वादीश्वरायवादिपितामहसकलविद्वज्जनचक्रवर्तिवकडिकडिवाणपरमभट्टविक्रमादित्यमण्याहकरूपकृत्ताणा, पुष्करगच्छविरुदावलीराजमाननित्याचेकादशवादिप्रथमगानवरखंडनप्रचण्डवचनरचनाधीश्वरपडन्दर्शनस्थापनाचार्यपट्टतर्कचक्रेश्वरडिल्लिसिंहासनाधीश्वरस्वाभिमानवान्धर्मसिंहत्रैविद्यचक्रेश्वरस्मार्तण्डमण्डलायमानसोमसेनभट्टारकाचार्याणा, पट्टवार्धिनयनैकपूर्णचन्द्रायमाणश्रीमूलसंघसपादिमुखश्रीजिनेश्वरश्रीपादभक्तिभर[रि]तश्रीमद्गुणभद्रभट्टारकाणा तद्गोराज्याभ्युदयसमृद्धिसिद्ध्यर्थं श्रीमद्रत्नत्रयमोक्षहेतुभूततपोराज्योपचयार्थं ॥

यह प्रशस्ति जैन मठ मूडबिद्री के नं० ३४४ की एक ताडपत्रीय हस्तलिखित प्रति में उपलब्ध हुई है। यद्यपि इसमें प्रतिपादित कुछ बातें प्रचलित मान्यता के खिलाफ पडती हैं। फिर भी इसमें ऐसी भी बहुतसी बातें मौजूद हैं, जो कि अनुसन्धान प्रेमी विद्वानों के काम की हैं। इसी आशय से यह प्रशस्ति भास्कर' में दी जा रही है। -इसमें कोष्ठक में जो पाठ दिये गये हैं वे मूल के नहीं हैं, किन्तु मेरे अपने हैं। —के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री

तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा

[ले०—श्रीयुत न्यायाचार्य प० दरबारीलाल जैन, कोठिया]

'तत्त्वार्थसूत्र' आज जितना विचार का विषय बना हुआ है, शायद वह उतना पहले भी विचारणीय रहा हो। इस पर दर्जनों टीकाएँ तो दिगम्बर परम्पराके विद्वानोंकी हैं और दर्जनों ही श्वेताम्बरीय विद्वानों की। इस तरह वह थोडे से पाठ भेद के साथ दोनों परम्पराओंमें प्रतिष्ठित एव मान्य है। जैन वाङ्मयकी अनेक अमर कृतियोंमें यह गौरव प्राय अकेले तत्त्वार्थसूत्रको प्राप्त है। आचार्य उमास्वातिने इस छोटीसी दशाध्यायात्मक अनूठी कृतिमें समस्त जैन तत्त्वज्ञानको सक्षेपमें गागरमें सागरकी तरह भरकर अपने विशाल और सूक्ष्म ज्ञान भण्डारका[1] परिचय दिया है। यही कारण है कि जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्र-

१ दिगम्बर परम्परामें इन्हें 'श्रुतकेवलिदेशीय' माना गया है। देखो, नगर तालुकेका शिलालेख नं० ४६ और श्वेताम्बर परम्परामें 'पूर्ववित्' के अर्थमें 'वाचक' कहा गया है। देखो, प० सुखलाल जी द्वारा सपादित तत्त्वार्थसूत्र 'परिचय' पृ० १८।

का बहुत बड़ा महत्व है और उसका वही स्थान है जो हिन्दू सम्प्रदायमें गीताका। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकी इस अपनी महत्ताको देखकर उसे दोनों—दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओंने अपनाया और अपना सिद्ध करने के लिये अपने ढंगसे व्याख्याएँ, टीकाएँ भाष्य, वृत्ति आदि लिखीं तथा अपनी परम्पराके मत भेद प्रदर्शक कतिपय सिद्धान्त उसके सूत्रोंका अवलम्बन लेकर फलित किये, परन्तु इतना होते हुए भी विचारका प्रायः जितना उदारक्षेत्र पहले रहा उतना आज नहीं रहा।

आजसे कोई लगभग १५ वर्ष पहले श्वेताम्बर विद्वान् श्रीमान् पण्डित सुखलालजीने सर्व प्रथम तत्त्वार्थसूत्र और उसकी व्याख्याओं तथा उसके कर्तृत्व-विषय में अपने गवेषणापूर्ण दो लेख लिखे थे और जिनके द्वारा अद्यावधि सर्वतो अधिक प्रकाश डालते हुए तत्त्वार्थसूत्र और इसके कर्त्ताको तटस्थ परम्पराका सिद्ध किया था[1]—उन्हें मात्र दिगम्बर या श्वेताम्बर परम्पराका नहीं बतलाया था। इसके कोई चार वर्ष बाद (सन् १९३४) में श्वेताम्बर विद्वान् उपाध्याय श्रीआत्मारामजीने कतिपय श्वेताम्बर आगमोंके सूत्रोंके साथ तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका समन्वय करते हुए 'तत्त्वार्थसूत्रजैनागमसमन्वय'[2] नामसे एक ग्रन्थ लिखा और तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर परम्पराका ग्रन्थ प्रसिद्ध किया। जब यह ग्रन्थ उक्त श्रीमान् पण्डितजीको प्राप्त हुआ तो अपने पूर्व चिरंतन गवेषणापूर्ण तत्त्वार्थसूत्रको तटस्थ-परम्पराका ग्रन्थ माननेके विचारको छोड़कर उसे उन्होंने मात्र श्वेताम्बर परम्पराका प्रकट किया और यह कहते हुए कि "उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधारपर ही बना है।" "वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए दिगम्बरमें नहीं"'।" निःसंकोच उसे श्वेताम्बर परम्पराका होनेका अपना निर्णय भी दिया है[3]। इस तरह पर एक बहुत प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थको दूसरी परम्पराके द्वारा सर्वथा अपना सिद्ध करने और उसे वैसा बनानेके क्रियात्मक प्रयत्नको देखकर दिगम्बर परम्पराके विद्वानोंने भी ऐसी हालतमें चुप बैठना ठीक नहीं समझा और उन्होंने उनके इस प्रयत्नका उत्तर दिया।

सर्व प्रथम पं० परमानन्दजी शास्त्रीने 'तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज' शीर्षक एक गवेषणापूर्ण लेख लिखा[4] और उसके द्वारा उन्होंने दिगम्बर परम्पराके प्राचीन आगम ग्रन्थोंके उसमें सप्रमाण बीज प्रस्तुत करके उसे दिगम्बर परम्पराका बतलाया। श्रीमान् पं० फूलचंद-जी सिद्धान्त-शास्त्रीने भी 'तत्त्वार्थसूत्रका अन्तःपरीक्षण' शीर्षक दो लेख लिखे[5] और

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ३ किरण ६, ७, ११, १२ 'तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति' और 'तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकार और व्याख्याएँ' शीर्षक दो लेख।

२ यह ग्रन्थ लाला शादीराम गोकुलचन्द जौहरी, चांदनी चौक देहली ने प्रकाशित कराया है।

३ देखो, पंडित सुखलालजी द्वारा संपादित 'तत्त्वार्थसूत्र' लेखका वक्तव्य पृ० १८ और 'परिचय' पृ० २४

४ देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण १।

५ देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण ११-१२ और अनेकांत वर्ष ५ किरण १-२

उनके द्वारा उन्होंने गहन परीक्षण करके यह सिद्ध किया कि तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर मान्यताओंसे सम्बन्ध रखने वाला है। अभी गत अक्तूबर (सन् १९४४) में कलकत्तामें हुए वीर शासन महोत्सवके अवसर पर श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीने[1] अपनी खोजके आधार पर तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको यापनीयसंघका[2] बतलाया। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकी परम्पराका अनिर्णय एक उलझी हुई गुत्थीके रूपमें चला आ रहा है।

गत दिनों जब मैं प्रो० हीरालालजी एम० ए० के 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामक निबंधके निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्रको एक माननेके विचार सबंधी एक प्रधान अंशका उत्तर लिखनेके लिये 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं, ?' शीर्षक लेखकी[3] तैयारीमें लगा हुआ था, तब मुझे भद्रबाहुकी, जिनका श्वेताम्बर परम्परामें बहुत बड़ा स्थान है और जिनकी निर्युक्तियाँ सीधी आगमसूत्रों पर लिखी होनेके कारण आगमतुल्य मानी जाती है, निर्युक्तियोंके पन्ने उलटनेका अवसर मिला। निर्युक्तियोंमें मुझे कुछ ऐसी बातें मिली हैं जो श्वेताम्बर आगमोंके तो अनुकूल हैं। पर आचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके अनुकूल नहीं हैं। मुझे उस समय ऐसा लगा कि जब तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर बना हुआ बतलाया जाता है और उसे श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रसिद्ध किया जाता है तो ये विभिन्न बातें इसमें क्यों हैं ? जो कि दिगम्बर परम्पराके अनुकूल हैं। जब तत्त्वार्थसूत्रकार श्वेताम्बर परम्पराके है और उनका तत्त्वार्थ सचेल श्रुत (श्वेताम्बर आगम) के आधारपर बना है तब उन्होंने श्वेताम्बर श्रुत (आगम) का त्याग क्यों किया ? भद्रबाहुकी तरह पूर्व परम्परानुसारही प्रवृत्ति क्यों नहीं की ? ये बातें ऐसी है जो उपेक्षणीय नहीं हैं और जो हमें वास्तविक तथ्यको खोजनेके लिये इङ्गित करती हैं।

अत आज मैं निर्युक्तिकार और तत्त्वार्थसूत्रकारके बीचमें पाये जाने वाले वैषम्यको विद्वान् पाठकोंके सामने प्रस्तुत करता हूँ जिनके आधारपर आ० उमास्वाति और उनका तत्त्वार्थसूत्र सचेल परम्पराके सिद्ध न होकर असंदिग्ध रूपसे अचेल दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध होते हैं। यथा—

१ निर्युक्तिकार भद्रबाहुने उत्तराध्ययन निर्युक्तिकी ७७वीं गाथामें दर्शन परीषह बतलाई है और उनका यह बतलाना उत्तराध्ययनसूत्रों (पृ० ८२) में आई 'सम्मत्त परीसह' के अनुकूल है[4]। भद्रबाहुकी वह गाथा निम्न प्रकार है —

'दंसणमोहे दंसणपरीसहो नियमसो भवे एक्को।'

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेपर नियमसे दर्शन परीषह होती है। लेकिन तत्त्वार्थसूत्रकार आ० उमास्वातिने 'दर्शनपरीषह' या 'सम्मत्तपरीसह' नहीं कहा। उन्होंने 'अदर्शन परीषह' बतलाई है। जैसा कि उनके निम्न दो सूत्रोंमें प्रकट है—

१ आप इस सम्बन्धमें कोई लेख भी लिख रहे हैं।

२ यापनी संघ दिगम्बर सम्प्रदायका ही एक संघ भेद है।

३ यह लेख अनेकान्त वर्ष ६ किरण १० ११ में प्रकट हो चुका है।

४ तत्त्वार्थसूत्रजैनागमसमन्वयके उल्लिखित सूत्रोंमें भी है। देखो, ८

"क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोग-तृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।'—तत्त्वार्थसू० ९—९ ।

'दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।'—त० सू० ९—१४ ।

अर्थ—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ।

दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे अदर्शन और अन्तरायकर्मके उदयसे अलाभ परीषह होती है ।

यहां स्पष्टतया 'अदर्शनपरीषह' का ग्रहण है । और तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारोंने भी अदर्शन परीषह ही मानी है, दर्शन परीषह नहीं ।

२ भद्रबाहु ने इसी उत्तराध्ययन निर्युक्तिकी गाथा ८२ में एक जीवके उत्कृष्ट और जघन्यपनेसे संभव परीषहोंका वर्णन करते हुए एक साथ कमसे कम एक और अधिकसे अधिक २० परीषहोंका सद्भाव स्वीकार किया है । जैसा कि उनकी निम्न गाथासे स्पष्ट है:—

वीसं उक्कोसपए वट्टंति जहन्नओ हवइ एगो ।
सीउसिण चरियं निसीहिया य जुगवं न वट्टंति ॥

अर्थ—उत्कृष्टपनेसे २० और जघन्यपनेसे १ परीषह होती है । एक तो स्पष्ट है और वीस इस तरह कि शीत और उष्ण तथा चर्या और निषद्या ये एक साथ नहीं हो सकतीं । शीत और उष्णमेंसे कोई एक और चर्या तथा निषद्यामेंसे कोई एक परीषह होगी । इस तरह दो परीषह कम करनेपर २२—२ = २० परीषह ही हो सकती हैं । इससे कम नहीं और न ज्यादा । उनका यह कथन श्वे० आगमानुसार है[1] ।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार इससे कुछ और ही कहते हैं । वे उत्कृष्टपनेसे १९ ही परीषह बतलाते हैं । जैसे—

'एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतिः ।'—तत्त्वार्थसू० ९—१७

अर्थ—एक जीवमें एक साथ एकको आदि लेकर १९ तक परीषह हो सकती हैं । यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकारने निर्युक्तिकारकी तरह स्पष्ट करके नहीं बतलाया कि वे १९ परीषह कौनसी संभव हैं और कौन कम हो जाती हैं ? पर १९ की संख्या तो सूत्रकारकी ही कण्ठोक्त है और उसका खुलासा तथा मेल उनके टीकाकारोंने बिठाकर उनके अभिप्रेतको स्पष्ट किया है और बतलाया है कि शीत और उष्णमेंसे कोई एक तथा चर्या, शय्या और निषद्यामेंसे एक ही परीषह संभव है । अतः शीत और उष्णमेंसे एक और चर्या, शय्या

1 'सत्तविहबंधगस्स णं भंते ? कति परीसहा पण्णत्ता ? गोयमा ! बावीसं परीसहा पण्णत्ता, वीसं पुण वेदेइ, जं समयं सीयपरीसहं वेदेति णो तं समयं उसिणपरीसहं वेदेइ, जं समयं उसिण-परीसहं वेदेइ णो तं समयं सीयपरीसहं वेदेइ, जं समयं चरिया परिसहं वेदेति णो तं समयं निसीहि-यापरीसहं वेदेति जं समयं निसीहियापरीसहं वेदेइ णो तं समयं चरियापरीसहं वेदेइ ।'

—तत्त्वार्थसूत्रजैनागमसमन्वय पृ० २०८

तथा निषद्यामेंसे दो इस प्रकार तीन परीषह कम कर देने पर २२ − ३ = १९ ही परीषह एक साथ होती हैं।

पाठक, देखेंगे कि तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारोंका एक ही मन्तव्य है। यह ध्यान देने योग्य है कि भद्रबाहुने चर्या और निषद्याके साथ शय्याका विरोध उद्भावित नहीं किया। जब कि चर्या और निषद्याके पारस्परिक विरोधकी तरह शय्याका भी उन दोनोंके साथ स्पष्ट विरोध है। चर्या तथा निषद्याके समय शय्या परीषह नहीं हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि नियुक्तिकार चर्या या निषद्याके साथ शय्याका भी सहभाव मानते हैं और वे ऐसा मानकर ही उत्कृष्टपनेसे २० परीषहोंके होनेकी अपनी श्वेताम्बरीय श्रुत मान्यताको प्रकट करते हैं। जब कि तत्त्वार्थसूत्रकारकी मान्यता १९ की ही है।

३ नियुक्तिकार भद्रबाहु तीर्थंकर कर्म के २० कारणोंको बतलाते हैं जो श्वेताम्बर आगमानुसार है। वे कारण नीचे दिये जाते हैं —

अरिहंतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छल्लया य एसिं अभिक्ख नाणोवओगो य॥
दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य॥
अप्पुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो॥

—आवश्यक नियु० गा० १७९, १८०, १८१

अर्थ—अर्हत्वत्सलता, सिद्धवत्सलता, प्रवचन-वत्सलता, गुरुवत्सलता, स्थविरवत्सलता, बहुश्रुतवत्सलता, तपस्विवत्सलता अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, दर्शननिरतिचारता, विनयनिरतिचारता, आवश्यक निरतिचारता, शीलनिरतिचारता, व्रतनिरतिचारता, क्षण लवसमाधि, तप समाधि, त्याग-समाधि, वैयावृत्यसमाधि, अपूर्वज्ञानग्रहण, श्रुतभक्ति और प्रवचन प्रभावना, इन कारणोंसे जीव तीर्थंकरत्व—तीर्थंकरपनेको प्राप्त होताहै—अर्थात् तीर्थंकर कर्मका बन्ध करता है।

यहाँ नियुक्तिकारने यद्यपि बीस कारणोंको एक एक करके गिना दिया है और वे कुल बीस हो जाते हैं किन्तु उनके परिमाणको स्पष्ट बतानेवाला संख्यावाची 'बीस' पद नहीं दिया। जब मैंने इसी नियुक्तिकी अगली गाथाओंको और पढ़ा तो वहाँ स्पष्टतया बोध करानेवाला उन्हींके द्वारा प्रयुक्त 'बीस' पद भी मिल गया जहाँ बीसोंमें अथवा किसी एकसे भी तीर्थंकर कर्मका बन्ध होनेका उल्लेख है। वह गाथा इस प्रकार है —

नियमा मणुयगईए इत्थी पुरिसे यरोव्व सुहलेसो।
आसेवियबहुलेहिं वीसाए अण्णयरएहिं॥ —आवश्यक नि० गा० १८३

अर्थ—मनुष्यगतिमें शुभलेश्यावाला पुरुष अथवा स्त्री नियमसे बीसकारणों या किसी एक का आसेवन करनेसे तीर्थंकरत्वको प्राप्त करता है।

है। कुछ करण सूत्र तो भारतीय गणित परम्परा के अनुसार ईस्वी सन से कई शताब्दी पूर्व के हैं और कुछ शक सं० की ७वीं और ८ वीं शताब्दी की गणित परम्परा के अनुसार विकसित, संशोधित एवं परिवर्तित रूप लिये हुए हैं। मैंने ऐसे २५ सूत्रों की भारतीय गणित के इतिहास के अनुसार सूची तैयार की एवं गणित के विकास क्रम के अनुसार उन सूत्रों के समय का अनुमान लगाया, तो कुछ सूत्र आर्यभट्ट के कालक्रियापाद एवं आर्यभट्टीय के अनुसार मालूम पड़े, पर कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें याजुष् और ऋक ज्योतिष के सूत्रों के समान गणित का प्रारम्भिक रूप ही मानना पड़ेगा। दो-चार सूत्र ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के सूर्यसिद्धान्तादि गणितग्रन्थों के समान भी हैं; कुछ सूत्र अत्यन्त विकसितावस्था में ब्रह्मगुप्त और भास्कर की गणित शैली का अनुसरण करते हैं। इन विभिन्नताओं को देखकर मैंने विचार किया था 'भास्कर' की आगामी किरण में "तिलोय-पण्णत्ती के करणसूत्रों की परीक्षा" शीर्षक लेख अपने पाठकों के समक्ष रक्खूंगा, पर कागज नियन्त्रण की असुविधा ने ऐसा न करने दिया। फिर भी इतना तो अवश्य कह देना चाहता हूं कि वर्तमान तिलोय-पण्णत्ती वास्तविक में एक संकलित ग्रन्थ है। क्योंकि कोई भी गणितज्ञ इतनी बड़ी विषमता—गणित सम्बन्धी सूक्ष्मता और स्थूलता, एक साथ नहीं लिख सकता। भवन की तिलोय-पण्णत्ती की प्रति मे एक लम्बी प्रशस्ति जिनचन्द्र के शिष्य मेधावी पण्डित की दी गई है। इनका समय अनुमानतः विक्रम संवत् की १६ वीं शताब्दी मालूम पड़ता है। इस प्रशस्ति से इतिहास के विद्वानों को अनेक बातों की जानकारी होगी, इसलिये भास्कर में दी जा रही है। कई मित्रों का भी आग्रह था कि मैं इस प्रशस्ति को भास्कर में शीघ्र दे दूँ; जिससे विद्वानों के समक्ष विचारार्थ सामग्री उपस्थित हो सके। तिलोयपण्णत्ती जैन गणित की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जैसे वैदिक साहित्य में वेदाङ्ग ज्योतिष प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्व पूर्ण माना जाता है, वैसे ही जैनागम ग्रन्थों में भी फुटकर रूप से अनेक गणित सम्बन्धी चर्चाएँ उपलब्ध हैं। यदि इन चर्चाओं को कालक्रमानुसार संकलित कर लिया जाय तो वेदाङ्ग ज्योतिष से भी महत्त्व पूर्ण जैनगणित की अनेक बातें प्रकाश में आ जायँ।

प्रशस्ति

वृषभो वः श्रियं कुर्याद्वृषभाङ्को वृषाग्रणी। ध्वस्ता रागादयो येन दोषाः सिंहेन वा मृगाः ॥१॥ चन्द्रप्रभो जिनो जीयाच्चन्द्राभोऽपि तनुश्रिया। निष्कलङ्कः कलानेको भ्रान्तिहीनस्त-मोगतः ॥२॥ शान्तिः शान्तिकरो भूयात्षोडशस्तीर्थनायकः। चकार जगतः शान्तिं यो धर्मामृत-वर्षणैः ॥३॥ श्रीवीरं च महावीरं वर्द्धमानं च सन्मतिम्। महति (महान्तं) प्रणमामीशं कलौ कल्पतरूपमम् ॥४॥ यदालम्ब्य जना यान्ति पारं संसारवारिधेः। अनन्तमहिमाढ्यं तज्जैनं जयति शासनम् ॥५॥ जयन्तु गौतमस्वामिप्रमुखाः गणनायकाः। सूरयश्च जिनेन्द्रान्ताः श्रीमन्तः

कमदेशका ॥६॥ वर्षे नवेकपंचेक १५१९ पूरणे विक्रमेनत (गते)। ज्येष्ठमासे सिते पक्षे पंचम्यां भौमवासरे ॥७॥ अथोमथ्योधचोकम्य यथा प्रज्ञापन मतम्। तस्मात्त्रैलोक्यप्रज्ञप्तेरश लेखयितु ग्रन्थे (लेखयितुं ग्रंथे) ॥८॥ श्रीजम्बूपपदे द्वीपे क्षेत्रे भरतसज्ञके। कुरुजांगलदेशोऽस्ति यो देश सुरसम्पदाम् ॥९॥ विद्यते तस्य मीपस्था श्रीमती योगिनीपुरी। या पाति पातिसाहि श्रीवहलोलाभिधो नृप ॥१०॥ तस्या प्रत्यग्दिशि ख्यात श्रीहिसारपिरोजकम्। नगर नगरमादि-वल्लीराजिविराजितम् ॥११॥ तत्र राज्य करोत्येप श्रीमान् कुतुबखानक। यश्चकार प्रजा स्वस्था दाता भोक्ता प्रतापवान् ॥१२॥ अथ श्रीमूलसंघेऽस्मिन् नन्दिसंघेऽनघेऽजनि। बलात्कारगणस्तत्र [गच्छ] सारस्वतस्त्वभूत् ॥१३॥ तत्राजनि प्रभाचन्द्र सूरिश्च द्रोजिताग्ज। दर्शनज्ञानचारित्र-तपोवीर्यसमन्वित ॥१४॥ श्रीमान् बभूव मार्तण्डस्तत्पट्टोदयभूधरे। पद्मनन्दी बुधानन्दी तमश्छेदी मुनि प्रभु ॥१५॥ तत्पट्टाम्बुधिसच्चन्द्र शुभचन्द्र सतां वर। पंचाक्षवनदावाग्नि कषायक्ष्माधराशनि ॥१६॥ तदीयपट्टाम्बरभानुमाली क्षमादिनानागुणरत्नशाली। भट्टारक-श्रीजिनचन्द्र नामा सैद्धान्तिकानां भुवि योऽस्ति सीमा ॥१७॥ स्याद्वादामृतपानतृप्तमनसो यस्यातनोत्सर्वत, कीर्तिर्भूमितले शशाङ्कधवला सुज्ञानदानात्सत। चार्वाकादिमतप्रवादितिमिरोष्णांशोर्मुनीन्द्रप्रभो, सूरिश्रीजिनचन्द्रकस्य जयनात्सघोहि तस्यानघ ॥१८॥ बभूव मण्डलाचार्य सूरे श्रीपद्मनन्दिन। शिष्य सकलकीर्त्याख्यो लसत्कीर्तिर्महातप ॥१९॥ आचार्यं जयकीर्त्याह्वस्तच्छिष्यो मुनिकुंजर। उत्तमक्षान्तिमुख्यानि धर्माङ्गानि दधाति य ॥२०॥ [स] दक्षिणादुत्तरदेशे समागत्य मुनिप्रभु। जैनमुद्योतयामास शासन धर्मदेशनात् ॥२१॥ पुण्यो मिक्षुरगिरया यस्मिञ्जाते मुनीश्वरे। मन्ये सम्यक्त्वमग्राहि कैश्चिन्नागुणमहात्मनम् ॥२२॥ हरिभूषणसज्ञोऽस्ति तस्य शिष्योऽस्तमन्मथ। एकान्तरायजस्र य करोत्युग्र तपो मुनि ॥२३॥ पर सहस्रकीर्त्याख्यस्तच्छिष्यो भवभीरुक। दीक्षां जग्राह यस्त्यक्त्वा भ्रातृपुत्रपरिग्रहम् ॥२४॥ क्षान्तिका ? क्षान्तिशीलस्या (ला) दि गुणरत्नखनि मता। ग धनश्रीरितिख्याता शीलालङ्कारविग्रहा ॥२५॥ अणुव्रतस्ति बोधाख्यो जिनाङ्घ्रिद्वार्थसद्रुचि। शङ्कादिदोषनिर्मुक्त सम्यक्त्वादिगुणान्वित ॥२६॥ द्वितीयो ब्रह्ममेधाख्यो भवकायविरक्तधी। नियमादिगुणैर्युक्त शास्त्राध्ययनतत्पर ॥२७॥ अग्रोतकशाख साधुर्लवदेवाभिधानक। तस्यवद्धोद्धरणसञ्ज्ञ ? तत्पत्नीभीपुही श्रुति ॥२८॥ तयो पुत्रोऽस्ति मेघाविनामा पण्डित कुंजर। आप्तागमविचारज्ञो जिनपादाब्जषट्पद ॥२९॥ एषामाम्नायसम्भूते वंशे खण्डेलसञ्ज्ञके। गोत्रे गोधाभिधाने [यो] नाना गोधाकरोऽजनि ॥३०॥ साधुमात्रतत्रास्त्र सोव्रतसोपमे कुले। यस्योपकारजाकीर्त्या सर्वं श्वेतीकृतं जगत् ॥३१॥ तत्पुत्रौ परमोदारौ दानमानादिसद्गुणौ। नागराजाशावित्र जिनश्री मिथ स्नेहवशौ भृशम् ॥३२॥ साधु कुमारपालाख्यस्तदाद्योऽभूत्महामत। देवपूजादिषट्कर्मनिरतो विरतोऽशुभात् ॥३३॥ तत्पत्नी लाडिमसञ्ज्ञामीर्लक्ष्मीरिव हर प्रिया। यया जिग्ये स्वशीलेन सीतारूपेण सा इति ॥३४॥ तत्पुत्रस्तिलय जात जिनगादिगुणान्वितम्। येन समूषित गोत्र तपो रत्नत्रयेण वा ॥३५॥ तत्राद्य पद्मसिंहाख्य सघेशो जिनपाद-

श्रित्। हिंसा [त्याग] सत्यादिपंचाणुव्रतभूषितः ॥३६॥ भाग्यं भालस्थले यस्य शिरस्युच्चै- गु रोन्नतिः। शास्त्रस्य श्रवणं श्रत्रोर्नेत्रयोः सम्यग्दर्शनम्' ॥३७॥ वचने प्रियवादित्वं कण्ठेऽर्हं- द्गुणकोर्त्तनम् बुद्धौ परोपकारस्तु हृदि पंचगुरुस्मृतिः ॥३८॥ करे दानं सुपात्रस्य लक्ष्मीवक्ष- स्थलेऽवसत्। पादयोस्तीर्थयात्रादिः सभा मूर्त्तिमन्निवौ ॥३९॥ त्रिकलम्॥ अन्यो नेमाभिधानोऽभून्नियमादिगुणान्वयः। संघधूर्द्धरणे नेमिर्निजवंशनभो रविम् ॥४०॥ जातः पुरुरसारंगः सारंगस्तृतीय ' सुत.। चतुर्विधमहादानविधौ कल्पतरुप्रभः ॥४१॥ साधुसावन्तसज्ञस्य यो द्वितीयस्तनूरुह । सोऽयं भाभण' ? नामा चीन्छीलालंकृतविग्रहः ॥४२॥ तदंगजास्त्रयः ख्याता मुनिराजमदस्यय (थ) ॥४३॥ तेष्वाद्यः साधुनाल्हाख्यः साहलादो जिनपूजने। यूतादिव्यसनत्यागाच्छ्रावकः व्रतभावकः ॥४४॥ सहजाको द्वितीयोऽभूत्सदैव प्रियंवदः। गाम्भीर्येण पयोराशिं यो जिगाय धिया गुरुम् ॥४५॥ तृतीय. सावनाभिख्यो जातो जगति कीर्त्तिमान्। यो दानं याचकेभ्योऽदात्प्रहृष्टो हृष्टिमात्रतः ॥४६॥ श्रीमत्कुमारपालस्य यो जातः प्रथमोंगजः। पद्मसिंहोऽभिधानेन पद्माभास्यो जनप्रियः ॥४७॥ तद्भार्या कृतसत्कार्या साध्वी मेहिणिसंज्ञया। गौरीवेशस्य चन्द्रस्य रोहिणीव मन प्रिया ॥४८॥ या सती नारिवृन्देभा- च्छीलनिर्मलवारिभिः। गीतादिकजहंसैश्च गगेवसरिताङ्गणे ॥४९॥ तयोस्तनूरुहा. सन्ति त्रयः कन्दर्पमूर्त्तयः। शंखकुन्देन्दुहाराभकीर्त्तयः पटुनिनयः ॥५०॥ तेषामाद्योऽस्ति संघेशो घेरुनामा गुणाकरः। सतामग्रेसरः स्फारः सर्वलोकमनोहरः ॥५१॥ मानितः सुर (ल) तानेन बहलोलाभि- धेन यः। पुर्यां सिहतरंगिण्यां भाण्डागारपदे भृत ॥५२॥ ये वन्दिगृहमानीता म्लेच्छैश्चान्द्रादि ? सज्जनाः। तान्विमोच्य सद्द्रव्येण न्यायेनोपार्जितेन वै ॥५३॥ तेभ्यो दत्त्वा च सद्भुक्तिं वस्त्राणि परिधाप्य च। व्ययं य (वि) तीर्य मार्गाय विस [स] र्जे गृहं प्रति ॥५४॥युगलम्॥ भाण्डागारपदे यस्मिन् श्रावकाः सुखमास्थिता। दानपूजाविधिव्यक्त भेरया संविभ्रमानसा ॥५५॥ दुर्मनगरको- टाख्ये ? येन सूत्तुंगतोरणम्। कलशध्वजरोचिष्णु कारितं जिनमन्दिरम् ॥५६॥ सूही नाम्न्यस्ति तज्जाया लच्चच्छाया व्यान-च्छाया' कलालया। दायिनी पात्रदानानां भर्त्तुर्भक्ति विधायिनी ॥५७॥ मिष्टां यद्गिरमाकर्ण्य कोकिला वा ह्रिया पुरान्। निर्गत्य स्वं च निन्दन्ती वनवास- मशिश्रियत् ॥५८॥ यदास्येनजितं चन्द्रं मन्ये सम्पूर्णमण्डलम्। नो चेत्कथं ततोऽन्हः सः क्षीयते प्रतिवासरम् ॥५९॥ मन्थरां यद्गतिं वीक्ष्य वराटाख्यो (वराटा) शोकसंगता। तत्राप्यैवातपक्रके- दुर्गमे जलसंगमे ॥६०॥ तन्नंदनौ समुत्पन्नौ रूपयौवनशालिनौ। कुलधूर्द्धरणौ दक्षौ पुरुषौ वृषभाविव ॥६१॥ आद्य. साधारण संज्ञा साधारो गुणभूषणः। यः सर्वज्ञपदाम्भोजे जातः षट्चरणोपम ॥६२॥ यच्छासनमनुल्लंघ्यं सर्वैर्नागरिकैर्जनैः। सीमेव पक्षिराजस्य हंसपुंस्को- किलादिभिः ॥६३॥ लब्ध्वा नामालसह्वामा द्वितीयो विनयान्वित। प्रसादाच्छान्तिनाथस्य चिरं जीयात्स् भूतले ॥६४॥ संघेशपद्मसिंहस्य द्वितीयोऽस्ति शरीरजः। सीहाश्रुनिर्धृतिक्षान्तिशान्ति-

१ मात्राधिक्यम् २ मात्रादोष. ३ इस स्थान की लिपि सुवाच्य नहीं है।
४इस स्थान पर 'चलच्छाया कलालया' पाठ सर्व श्रेष्ठ मालूम पड़ता है।

कान्ति गुणाजय. ॥६५॥ पराक्रमेण सिंहाम कान्त्या चन्द्रो धिया गुरु । गाम्भीर्येण पयोराशि मेंरुगरिमया स्वया ॥६६॥ या नित्य मरविन्द्रेही कुरुते देवपूजनम्। जनाद्य रष्टमिन्द्र व्येर्विधि वल्लानपूर्वकम् ॥६७॥ महर्तो स्वसमा लर्ब्वी परनारीं निरीक्ष्य य । मन्यते जननीं भगिनी पुत्री तुल्या स्वचेतसि ॥६८॥ गुणश्रीरिति त मेजे गंगेजलत्रणार्णवम्। उच्चै कुलाद्रिजाशुद्धद्विज राजिविराजिता ॥६९॥ किन्नर्यो इव सत्कन्यागीतानि जिनमन्दिरे । जन्तुरक्षोद्यश्रिताना मुनि नामपिमानमम् ? ॥७०॥ यशो पीतासुहारंश्च श्वेता कृष्णा शिरारुहे । हरिनाङ्कुरताभूले रक्त कुकुम मण्डने ॥७१॥ यस्य सौभाग्ययुक्तस्गों विलोक्य सुजना जना । नित्यमानन्दयामासुरिति मगनद्दर्शनम्॥७२॥ तृतीयो नन्दनो जात पद्मसिंहस्य पापहृत् । सर्वे सचाहडामिख्यो दानात्मा च प्रसन्नधी ॥७३॥ कुदेवगुरुतत्त्वषु सदेवगुरुतत्त्वधी । ,येनात्मा जाति मिथ्यात्व मनद् त्रवि वर्द्धनम ॥७४॥ देवेऽष्टादशदोषघ्नि गुरौ ग्रन्थविवर्जिते । तत्त्वे सर्वज्ञनिर्दिष्टे जीवादौ रुचि लक्षणम् ॥७५॥ सम्यक्त्वमिति यच्चित्ते स्थिरीभूत सुनिर्मलम् । प्राणिना भ्रमताश्च दुर्लभ यद्भवार्णवे ॥७६। ॥युग्मम्॥ अष्टौ मूलगुणान् पाति मधुमान्सादिवर्जनात । अतिचारगतान्शाश्वा-द्यनन्तकायमुक्मति[1] ॥७७॥ प्रथमप्रतिमाहिंसायाश्च मृषावादात् परस्वग्रहणात्तथा[1] । परस्त्रीरमणा-द्याय सगाद्विरमण मतम ॥७८॥ इति पचविध यश्चाणुव्रत मलवर्जितम्। धत्ते त्रिकरणे शुद्ध स्वर्गोकसुखकारणम् ॥७९॥ ॥युग्मम्॥ यश्चाणुव्रतरक्षार्थं गुणव्रतत्रय स्थिरम्। शिक्षाव्रतचतुष्क च पापाद्दोषोज्झित हितम् ॥८०॥ त्रिकाल क्रियते येन सामायिकमनुत्तमम्। सप्तशुद्धिभिरानीतं द्वात्रिंशद्दोषवर्जितम् ॥८१॥ चतु पर्वाणि कुर्यात्यो मास मास प्रतीच्छया । क्षमया करणग्रामनिग्रह-प्राणिरक्षणम् ॥८२॥ कालाग्नियपक्व यत् फलशाकिकादिकम् । जल च प्रासुक यश्च भुङ्क्ते पिनति नित्यश ॥८३॥ एकपत्नीव्रत येन गृहीत गुरुसन्निधौ । तत्रापि न दिवाभुक्ती रात्रावेव निषेवणम् ॥८४॥ इति गार्हस्थयोग्यानि पट्स्थानानि दधाति य । स्थानाना शेषपचाना भावाना भरत्यनम ॥८५॥ देवानर्च्चति नित्य यो जनाद्यैर्वस्तुभि शुभ । गुरून्नमति भक्त्या यो रत्न-त्रयपवित्रितान् ॥८६॥ शृणोत्यध्येति[2] सच्छास्त्र द्रव्यशुद्धयादिपूर्वकम्। इन्द्रियाणि निगृह्णाति जन्तून् रक्षति यत्नसान् ॥८७॥ स्वशक्त्या तपति प्राय प्रायश्चित्तादि यस्तप । दान चतुर्विध भक्त्या सत्पात्रेभ्य प्रयच्छति ॥८८॥ स्थाने श्रीमूमकणनाम्नि येनाकारि जिनालय । निजवित्तेन यस्तम्भ कलशध्वजराजित ॥८९॥ नित्य जिनालये श्रद्धा त्रिकाल देवतार्चनम्। कुर्वन्ती सोत्सव भक्त्या विधिवत्स्नानपूर्वकम ॥९०॥ चैत्रे भाद्रपदे मासे माघेऽष्टाह्निकपर्वणि । अभि षेकाश्च जायन्त यत्र मण्डनपूर्वकम् ॥९१॥ गायन्ति यत्र सन्नार्यो -माङ्गल्यानि जिनेशिनाम्। वादयन्ति च वाद्यानि नृत्यन्ति पुरुषोत्तमा ॥९२॥ सच्छायं पात्रसयुक्त सुमनोभि समर्चितम्। फलदायकमुच्चैस्थ नाराश्च (म) णमन्त्रितम् ॥९३॥ यमुद्दिश्यसमागत्य चतुर्दिग्भ्यो मुनीश्वरा । विश्राम्यन्ति च वन्दित्वा यदाद्रुममिवाध्वगा ॥९४॥ ॥युग्मम्॥ पूर्वजन्मजपापौघ राशिं सदग्धुमिच्छवे । मध्यकहिमकपूरकृष्णागुरुजधूपजम् ॥९५॥ मण्डलीभूतमालोक्य धूमं

१ मावादोय ।, २ मात्राधिक्यम् । ३ आत्मनपदमपश्यते ।

खे-मेवशंकिनः । अकाण्डे नाण्डवाटोपं यत्र तन्वन्ति बर्हिणः ॥९६॥ ॥युगलम्॥ येन चारु-मटाख्येन पंडितानां धृतेन वै । अन्वर्थेन हि पापाग्निनिर्जिताऽत्रशुभामिना ॥९७॥ विलोक्य संसारशरीरभोग्य विनश्वर दम्भपुरस्थिताम्नुवन् । परोपकारे जगतीह सारे धृता मतिर्येन सदा विशुद्धा ॥९८॥ यत्कीर्त्या हरहारचन्द्राकरणप्रोत्तुंगदुग्धार्णव, रंगद्गंगनरंगनन्निभमयाऽत्रेनी-कृते विष्टपे । श्रीवैरिश्विजनैर्विलोक्यवदनंश्चादर्शपट्टे सिते, श्वभ्रं वा विकृति विबुद्ध्य कण्ठे पत्युर्वियोगाभयात् ॥९९॥ पद्मावती जनि तस्य पद्माख्या पद्मसन्निभा । पद्मावती च नागाधि-पतेः सभोगदायिनी ॥१००॥ लावण्यवाहिनीकाया यस्याः रूपं विलोक्यते । युवानः स्मरनाराचै-र्विध्यन्त शतजजरम् ॥१०१॥ सीतामन्दोदरीगंगाद्रौपदीचन्दनायया । जिग्ये शीलेन सत्येन कलौ स्व-सौख्यदायिना ॥१०२॥ प्रातःपवित्रभूताङ्गो समभ्यर्च्यार्हन्तमीश्वरम् । वन्दित्वा सुगुरुन्व्याख्या-नं श्रुत्वागत्य स्वमन्दिरम् ॥१०३॥ भोजनावसरे साध्वी या श्रद्धादिगुणान्विताः । मुक्ति त्रितीर्य-पात्रेभ्यस्ततो भोजयते पतिम् ॥१०४॥ ॥युग्मम्॥ एषां मध्ये स्ववित्तेन न्यायेनोपार्जितेन वै । संघेशचाहडाख्येन विनयादिगुणाश्रिता ॥१०५॥ विज्ञापयित्वा मेधाविनामानं पण्डितं वरम् । सिद्धांतरसत्प्रान्तःकरणं शरणं धियाम् ॥१०६॥ लेखयित्वा हिसारास्य नगरान्नगराज्जिनान् ?। पुर्यां सिहतरंगिण्यामानाय्यस्व: समश्रियाम् ॥१०७॥ प्रावर्त्येतत्सिद्धान्तं हि भव्यानां पठनाय च । केवलज्ञानसंभूत्यैः स्वाज्ञानवृत्तिहानये ॥१०८॥ ॥चतुष्कलम्॥ पञ्चान्मेधाविसंज्ञाय पंडिताय सदात्मने । प्रदत्तं शास्त्रमेतद्धि यत्परंपरयागतम् ॥१०९॥ योऽष्टाविंशति[मूल]सद्गुणगुनी धत्ते गुणानुत्तरान्, खण्डेलान्वयमण्डनेन्दुवदनश्रीपद्मसिंहांगजः । सीहाचाहडरत्तसहोदरकसयो-रुकपुत्रान्वितः, सोऽयं श्री [ज] यकीर्त्तिरत्रभवतं दद्याच्छ्रियां मङ्गलम् ॥११०॥ "आशीर्वाद" तदा तैर्जिनविम्बानाममिषेकपुरस्सरा । कारितार्चा महाभक्त्या यथा युक्तिवत्सोत्सवम् ॥१११॥ भृंगारकलशादीनि जिनवासेसु पंचसु । दिमानि [कि ग] पंचैव चैत्योपकरणानि च ॥११२॥ चतुर्विधाय संघाय सदाहारश्चतुर्विधः । प्रादाय्यौषधदानं च वस्त्रोपकरणानि च ॥११३ सित्रया-चकदीनेभ्यः प्रीतितुष्टिकृपादि च । दानं प्रदत्तमित्यादि धनव्ययोऽत्यनायि (पि) ते. ॥११४॥ इत्थं सप्तक्षेत्र्यां वपते यो दानमात्मनो भक्त्या । लभते तदनन्तगुणं परत्र सोऽत्रापि पूज्य. स्यात्॥११५॥ यो दत्ते ज्ञानदानं भवति हि स नरो निर्जराणां प्रपूज्यो भुक्त्वा देवाङ्गनाभिर्विषयसुखमनुप्राप्य मानुष्यजन्म भुक्त्वा । राज्यस्य सौख्यं भवतनुखसुखन्निस्पृहीकृत्यचित्तम्, लात्वा दीक्षां च बुध्वा श्रुतमपि सकलं ज्ञानमन्त्यं लभेत ॥११६॥ ज्ञानदानाद्भवेद्ज्ञानी सुखीस्याद्भोजनादिह । निर्भयोऽभयतोजीवो नीरुगौषधदानत ॥११७॥ धर्मतः सकलमंगलावली धर्मतो भवति मुण्ड-केवली ? । धर्मतो जिनसुचक्रभृद्वलीनाथतद्रिपुमुखोनरोत्तली ॥११८॥ ज्ञात्वेति कुर्वन्ति तु जना सुधर्मं सदैहिकामुष्मिकसौख्यकामाः । देवार्चनादानतपोव्रताद्यैर्धान्यं न लभ्यं कृषिमन्तरेण ॥११९॥ शास्त्रं शस्त्रं पापवैरिक्षयेऽद्य शास्त्रं नेत्रं त्वन्तरार्थप्रदृष्टौ । शास्त्रं पात्रं सर्वसद्गुणानां शास्त्रं तस्माद्यत्नतो रक्षणीयम् ॥१२०॥ श्रुत्वा शास्त्रं पापशत्रुं हिनस्ति श्रुत्वा शास्त्रं पुण्यमित्रं धिनोति । श्रुत्वा शास्त्रं सद्विवेकं दधाति तस्माद्भव्यो यत्नतस्तद्धि पाति ॥१२१॥ यावत्ति-ष्ठति भूतले सुरनदी रत्नाकरो भूधरः । कैलाशः किल चक्रिकारितजगद्वंद्यश्चैत्यालयः ॥ यावद्व्योम्नि शशाकवासरमणिप्रस्फेटयत्तौत्तमस्तावत्तिष्ठतु शास्त्रमेतदमलं संपद्यमानं बुधैः ॥१२२॥ सूरिश्रीजिनचन्द्राङ्घ्रिस्मरणाधीनचेतसा । प्रशस्तिर्विहितावासौमीहाख्येन सुधीमता ॥१२३॥ यद्यत्रक्वाप्यवद्यं स्यादर्थे पाठे मयाहृतम् । तदाशोध्य बुधैर्वाच्यमनन्तः शब्दवारिधिः १२४॥

—नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न, आरा ।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पंडितमेधाविना विरचिता प्रशस्ता प्रशस्तिः समाप्ता ॥

कुछ महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित जैन ग्रंथ और उनका संक्षिप्त परिचय

[ले०—श्रीयुत ए० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूडबिद्री]

'जैन ज्ञानपीठ' कर्णाटक-शाखा मूडबिद्री की ओर से कर्णाटक के ग्रंथालयों में वर्तमान कुल हस्तलिखित ग्रंथों की एक अपूर्व सविवरण ग्रंथसूची जो तैयार की जा रही है उसमें अभी तक निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित संस्कृत प्राकृत ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। इस समय 'भास्कर' के विज्ञ पाठकों के समक्ष इन ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय ही उपस्थित किया जा रहा है। मूडबिद्री के ग्रंथ भाण्डारों में इन संस्कृत प्राकृत ग्रंथों के अतिरिक्त कई उल्लेखनीय अप्रकाशित कन्नड ग्रंथ भी प्राप्त हुए हैं। ये संस्कृत-प्राकृत ग्रंथ उत्तर भारत के विद्वानों के समक्ष भी आ जायँ, इस ख्याल से इन सब ग्रंथों की नागरी लिपि में प्रतिलिपि का प्रबन्ध भी किया गया है। आशा है कि हमारे सहयोगी विद्वान् इन अपूर्व ग्रंथों से लाभ उठाते हुए इनके प्रचार में 'ज्ञानपीठ' को अवश्य सहयोग प्रदान करेंगे। ग्रंथ इस प्रकार हैं —

१ स्याद्वादसिद्धि—वादीभसिंहसूरि, पत्र सं०—१४, पंक्ति प्रतिपत्र—९, अक्षर प्रतिपंक्ति—९०, लिपि—कन्नड, भाषा—संस्कृत, विषय—न्याय, लेखनकाल— × , अपूर्ण तथा सामान्य शुद्ध, दशा—जीर्ण।

२ ध्यानस्तव—भास्करनन्दी[1], पत्र सं—२, पंक्ति प्रतिपत्र—९, अक्षर प्रतिपंक्ति—९३, लिपि—कन्नड, भाषा—संस्कृत, विषय—अध्यात्म, लेखनकाल— × , पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध, दशा—उत्तम।

३ परमागमसार—श्रुतमुनि, पत्र सं—६, पंक्ति प्रतिपत्र—९, अक्षर प्रतिपंक्ति—९०, लिपि—कन्नड, भाषा—प्राकृत, विषय—सिद्धान्त, लेखनकाल— × , पूर्ण तथा शुद्ध, दशा—उत्तम।

४ नवपदार्थनिर्णय[2]—वादीभसिंहसूरि, पत्र सं—१३, पंक्ति प्रतिपत्र—९, अक्षर प्रतिपंक्ति—९६, लिपि—कन्नड, भाषा—संस्कृत, विषय—सिद्धान्त, लेखनकाल—×, पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध, दशा—उत्तम।

५ परीक्षामुखवृत्ति—श्रीशुभचन्द्रदेव, पत्र सं—९४, पंक्ति प्रतिपत्र—७, अक्षर प्रतिपंक्ति—९८, लिपि कन्नड, भाषा—संस्कृत, विषय—न्याय, लेखनकाल—×, अपूर्ण तथा सामान्य शुद्ध, दशा—उत्तम।

६ गणितसार—श्रीधराचार्य, पत्र सं—४५, पंक्ति प्रतिपत्र—६, अक्षर प्रतिपंक्ति—८५, लिपि—कन्नड, भाषा—संस्कृत, विषय—गणितशास्त्र, लेखनकाल—×, पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध, दशा—जीर्ण।

---

१ यह तात्पर्यवृत्ति के रचयिता हैं।

२ मात्र इसकी एक प्रति 'पन्नालाल सरस्वती-भवन' बम्बई में भी मौजूद है।

७ पुष्पांजलिमहाकाव्य—अयकीर्ति; पत्र सं—६; पंक्ति प्रतिपत्र—८; अक्षर प्रतिपंक्ति—६०; लिपि–कन्नड; भाषा–संस्कृत; विषय–काव्य; लेखनकाल— × ; अपूर्ण तथा सामान्य शुद्ध ; दशा–जीर्ण ।

८ विषमपदव्याख्यान[1]— ·····पत्र सं—१५; पंक्ति प्रतिपत्र—६; अक्षर प्रतिपंक्ति—१२५; लिपि–कन्नड; भाषा–संस्कृत; विषय–अध्यात्म; लेखनकाल— × ; पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा–उत्तम ।

९ आराधनासार—मुनि रविचन्द्र; पत्र सं—८; पंक्ति प्रतिपत्र—६; अक्षर प्रतिपंक्ति ८८; लिपि–कन्नड; भाषा–संस्कृत; विषय–धर्म; लेखन—×; पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा–उत्तम ।

१० कर्मप्रकृति—अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; पत्र सं—७६; पंक्ति प्रतिपत्र—८; अक्षर प्रतिपंक्ति—११०; लिपि—कन्नड; भाषा–संस्कृत; विषय—सिद्धान्त; लेखनकाल—×; पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा—उत्तम ।

संक्षिप्त परिचय

आराधनासार—मुनि रविचन्द्र; पत्र सं—८; पंक्ति प्रतिपत्र–८; अक्षर प्रतिपंक्ति ८८; विषय–धर्म; लिपि–कन्नड; भाषा–संस्कृत; लेखनकाल—×; पूर्ण तथा शुद्ध; दशा–उत्तम।

इसके प्रारम्भ में आराधना, आराधक, आराधनोपाय तथा आराधनाफल इन चारों को आराधना के चार चरण बतलाते हुए गुण-गुणी के भेद से आराध्य को दो प्रकार का बतलाया है। साथ ही साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप ये चारों आराध्य के चार गुण कहे गये हैं। आगे सम्यग्दर्शन के भेद-प्रभेदों को गिनाकर संक्षेप में उनके स्वरूप, स्वामी, काल एवं प्रयोजन आदि विस्तार से वर्णित हैं। इसके बाद दर्शन तथा ज्ञान के भेद-प्रभेदों को गिनाते हुए प्रत्येक के स्वरूप, स्वामी आदि कहे गये हैं।

इस ज्ञानाराधना के बाद क्रम प्राप्त सामायिक आदि सम्यक्चारित्र के भेद-प्रभेद, स्वरूप, काल तथा स्वामी साथ-साथ बतलाये गये हैं। इस प्रकरण में व्रत, समिति, गुप्ति, शील एवं संयम आदि भेद 'छेदोपस्थापनाचारित्र' के ही अन्तर्गत कहे गये है। अनन्तर सम्यक्तप के भेद-प्रभेदों का वर्णन करते हुए ध्यान के भेद तथा स्वामी आदि का स्वरूप विस्तार से कहा गया है। इस प्रकरण में बारह अनुप्रेक्षाएं 'संस्थानविचय' धर्म-ध्यान में ही परिगणित कर दी गई हैं। हा, यहां पर अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप विस्तार से मिलता है। इसके बाद आराधक के भेद विस्तार से कह कर सलक्षण पंच परमेष्ठियों को ही गुणी बतलाकर दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र आदि के आराधक कौन-कौन हो सकते है, यह विस्तार से वर्णित है।

पश्चात् शंकादि दोषों को त्यागकर निश्शंकितादि गुणों को प्राप्त करना ही दर्शनाराधनोपाय कह कर आगे क्रमशः ज्ञानादि आराधनोपाय भी बतलाये गये है। अन्त में चारों प्रकार

१ यह आचार्य गुणभद्र कृत 'आत्मानुशासन' की टीका है।

की आराधनाओं का फल बतलाते हुए प्रत्येक को मुख्य तथा अमुख्य के भेद से दो प्रकार का कहा है। जैसे—सम्यग्दर्शन का मुख्य फल क्षायिक सम्यक्त्व को पाना एवं अमुख्य फल एकेन्द्रिय तथा नरकादि में उत्पन्न न होना बतलाया है।

इसके रचयिता वर्तमान मैसूर राज्यान्तर्गत पनसोगे निवासी मुनि रविचन्द्र हैं। ग्रन्थ आर्या वृत्ति में सरल संस्कृत में रचा गया है। यह अप्रकाशित नवीन ग्रन्थ प्रकाशनीय है।

कर्मप्रकृति—अभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती, पत्र सं—७३, पंक्ति प्रतिपत्र—८, अक्षर प्रतिपंक्ति—११०, विषय—सिद्धान्त, भाषा—संस्कृत, लिपि—कन्नड, पूर्ण तथा शुद्ध, दशा—सामान्य।

इसके प्रारम्भ में ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियों के साथ-साथ उत्तर प्रकृतियों का भी वर्णन दिया गया है। इस वर्णन में 'साता' के स्थान पर 'माता', 'स्वाति' के स्थान पर 'स्फाति' उपलब्ध है। यहां पर स्फाति का अर्थ अभयचन्द्रजी ने वल्मीक बतलाया है। रस नामकर्म के प्रकरण में आचार्यजी लवण को छठा रस न मान कर उसे मधुर में शामिल करते हैं। प्रकृतियों के वर्णन के बाद ग्रन्थ कर्ता स्थित्यादि बन्धों का वर्णन करते हैं। कर्मों की स्थिति के प्रकरण में 'कोराकोटि' के स्थान पर 'कोटिकोटि' ही मिलता है। भावकर्म के प्रकरण में केवल भावकर्मों की संख्या नोकर्मों के प्रकरण में उनका स्वरूप ही दिया गया है। बाद संसारी तथा मुक्तजीवों का स्वरूप सविशद बतलाकर अध-प्रवृत्यादि करणों का स्वरूप अंक-संदृष्टि द्वारा विस्तार से कहा गया है। इस प्रकरण में शेष गुणस्थानों का स्वरूप भी बतला दिया गया है। मेरे खयाल से यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। विषय एवं साहित्य दोनों दृष्टियों से ग्रन्थ प्रकाशनीय है। इसके रचयिता आचार्य अभयचन्द्र 'गोम्मटसार' के टीकाकार ही मालूम होते हैं। ग्रन्थ गद्य रूप में सरल संस्कृत में लिखा गया है। अभयचन्द्रजी ने इस गहन विषय को सुलभ भाषा में समझाने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। इस कार्य में वे सफल भी हुए हैं।

(क्रमशः)

स्वप्न और उसका फल

[ले०—श्रीयुत साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिषतीर्थ प० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, आरा]

(गतांक से आगे)

वमन—स्वप्न में वमन और दस्त होना देखने से रोगी की मृत्यु, मल मूत्र और सोना चांदी का वमन करना देखने से निकट मृत्यु, रुधिर वमन करना देखने से ६ मास आयु शेष और दूध वमन करना देखने से पुत्र प्राप्ति होती है।

विवाह—स्वप्न में अन्य के विवाह या विवाहोत्सव में योग देना देखने से पीड़ा, दुःख या किसी आत्मीय जन की मृत्यु और अपना विवाह देखने से मृत्यु या मृत्यु तुल्य पीड़ा होती है।

वीणा—स्वप्न में अपने द्वारा वीणा बजाना देखने से पुत्र प्राप्ति; दूसरे के द्वारा वीणा बजाना देखने से मृत्यु या मृत्यु तुल्य पीड़ा होती है।

शृङ्ग—स्वप्न मे शृङ्ग और नख वाले पशुओं का मारने के लिये दौड़ना देखने से राजभय और मारते हुए देखने से रोग होता है।

स्त्री—स्वप्न मे श्वेत वस्त्र परिहिता, हाथों मे श्वेत पुष्प या माला धारण करने वाली एवं सुन्दर आभूषणों से सुशोभित स्त्री के देखने तथा आलिङ्गन करने से धन-प्राप्ति और रोग-मुक्ति होती है। परस्त्रियों का लाभ होना अथवा आलिङ्गन करना देखने से शुभ फल होता है। पीतवस्त्र परिहिता और पीत पुष्प या पीत माला धारण करने वाली स्त्री को स्वप्न में देखने से कल्याण; समवस्त्र परिहिता, मुक्तकेशी और कृष्णवर्ण के दाँत वाली स्त्री का दर्शन या आलिङ्गन करना देखने से ६ मास के भीतर मृत्यु और कृष्णवर्णवाली, पापिनी, आचार विहीना, लम्बकेशी, लम्बे स्तनवाली और मैले वस्त्र परिहिता स्त्री का दर्शन और आलिङ्गन करना देखने से शीघ्र मृत्यु होती है।

तिथियों के अनुसार स्वप्न का फल—

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा—इस तिथि में स्वप्न देखने पर विलम्ब से फल मिलता है।

शुक्लपक्ष की द्वितीया—इस तिथि में स्वप्न देखने पर विपरीत फल होता है—अपने लिये देखने से दूसरे को और दूसरे के लिये देखने से अपने को फल मिलता है।

शुक्लपक्ष की तृतीया—इस तिथि मे भी स्वप्न देखने से विपरीत फल मिलता है, पर फल की प्राप्ति विलम्ब से होती है।

शुक्लपक्ष की चतुर्थी और पंचमी इन तिथियों मे स्वप्न देखने से दो महीने से लेकर दो वर्ष के भीतर तक फल मिलता है।

शुक्लपक्ष की षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी और दशमी—इन तिथियों में स्वप्न देखने से शीघ्र फल की प्राप्ति होती है तथा स्वप्न सत्य निकलता है।

शुक्लपक्ष की एकादशी और द्वादशी इन तिथियों में स्वप्न देखने से विलम्ब से फल होता है।

शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी और चतुर्दशी—इन तिथियों मे स्वप्न देखने से स्वप्न का फल नहीं मिलता है तथा स्वप्न मिथ्या होते हैं।

पूर्णिमा—इस तिथि के स्वप्न का फल अवश्य मिलता है।

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा—इस तिथि के स्वप्न का फल नहीं होता है।

कृष्ण पक्ष की द्वितीया—इस तिथि के स्वप्न का फल विलम्ब से मिलता है। मतान्तर से इसका स्वप्न सार्थक होता है।

कृष्ण पक्ष की तृतीया और चतुर्थी—इन तिथियों के स्वप्न मिथ्या होते हैं।

कृष्ण पक्ष की पंचमी और षष्ठी—इन तिथियों के स्वप्न दो महीने बाद और ३ वर्ष के भीतर फल देने वाले होते हैं।

कृष्ण पक्ष की सप्तमी—इस तिथि का स्वप्न अवश्य शीघ्र ही फल देता है।

कृष्ण पक्ष की अष्टमी और नवमी—इन तिथियों के स्वप्न विपरीत फल देने वाले होते हैं।

कृष्णपक्ष की दशमी, एकादशी द्वादशी और त्रयोदशी इन तिथियों के स्वप्न मिथ्या होते हैं।

कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी—इस तिथि का स्वप्न सत्य होता है तथा शीघ्र ही फल देता है।

अमावस्या—इस तिथि का स्वप्न मिथ्या होता है।

जैन निमित्त शास्त्र के आधार पर कुछ विशिष्ट स्वप्नों के फल

धनप्राप्ति सूचक स्वप्न—स्वप्न में हाथी, घोड़ा, बैल और सिंह के ऊपर बैठकर गमन करता हुआ देखे तो शीघ्र धन मिलता है। पहाड़, नगर, ग्राम, नदी और समुद्र इनके देखने से भी अतुल लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। तलवार, धनुष और बन्दूक आदि से शत्रुओं को ध्वस्त करता हुआ देखने से अपार धन मिलता है। स्वप्न में हाथी, घोड़ा, बैल, पहाड़, वृक्ष और गृह इन पर आरोहण करता हुआ देखने से भूमिके नीचे से धन मिलता है। स्वप्न में नख और रोम से रहित शरीर के देखने से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। स्वप्न में दही, छत्र, फूल, चमर, अन्न, वस्त्र, दीपक, ताम्बूल, सूर्य, चन्द्रमा पुष्प, कमल, चन्दन, देव पूजा, वीणा और अस्त्र देखने से शीघ्र ही अर्थ लाभ होता है। यदि स्वप्न में चिड़िया के पर पकड़कर उड़ता हुआ देखे तथा आकाश मार्ग में देवताओं की दुन्दुभि की आवाज सुने तो पृथ्वी के नीचे से शीघ्र धन मिलता है।

सन्तानोत्पादक स्वप्न—स्वप्न में वृषभ, कलश, माला, गन्ध, चन्दन, श्वेत पुष्प, आम, अमरूद केला, सन्तरा, नीबू और नारियल इनकी प्राप्ति होने से तथा देव, मूर्ति, हाथी, सत्पुरुष, सिद्ध गन्धर्व, गुरु, सुवर्ण, रत्न, जौ, गेहूँ, सरसों, कन्या, रक्त पान करना, अपनी मृत्यु देखना, केला, कल्पवृक्ष, तीर्थ, तोरण, भूषण, राज्य मार्ग, और मट्ठा देखने से शीघ्र सन्तान की प्राप्ति होती है। किन्तु फल और पुष्पों का भक्षण करना देखने से सन्तान मरण तथा गर्भपात होता है।

मरण सूचक स्वप्न—स्वप्न में तेल मले हुए, नग्न होकर भैंस, गधे, ऊँट कृष्ण, बैल और काले घोड़े पर चढ़कर दक्षिण दिशा की ओर गमन करना देखने से, रसोई गृह में, लाल पुष्पों से परिपूर्ण वन में और सूतिका गृह में अङ्गभङ्ग पुरुष का प्रवेश करना देखने से, झूलना गाना, खेलना, फोड़ना, हँसना, नदी के जल में नीचे चल जाना तथा सूर्य, चन्द्रमा, ध्वजा और ताराओं का गिरना देखने से, भस्म, घी लोहा, लाख गीदड़ मुर्गा, बिलाव, गोह, न्योला, बिच्छू, मक्खी, सर्प और विवाह आदि उत्सव देखने से एवं स्वप्न में दाढ़ी मूँछ और सिर के बाल मुँड़वाना देखने से मृत्यु होती है।

रोगोत्पादक स्वप्न—स्वप्न में नेत्रों का रोग होना, कूप, गड्ढा, गुफा अन्धकार और बिल में गिरना देखने से, कचौड़ी, पूआ, खिचड़ी और पक्वान्न का भक्षण करना देखने से,

गरम जल, तैल और स्निग्ध पदार्थों का पान करना देखने से; काले, लाल और मैले वस्त्रों का पहनना देखने से; बिना सूर्य का दिन, बिना चन्द्रमा और तारों की रात्रि और असमय में वर्षा का होना देखने से; शुष्क वृक्ष पर चढ़ना देखने से; हँसना और गाना देखने से एवं भयानक पुरुष को पत्थर मारना हुआ देखने से शीघ्र रोग होता है।

शीघ्र पाणिग्रहण सूचक स्वप्न—स्वप्न में बालिका, मुर्गी, और क्रौंच पक्षी के देखने से; पान, कपूर, अगर, चन्दन और पीले फूलों की प्राप्ति होना देखने से रण, जुआ और विवाद में विजय होना देखने से; दिव्य वस्त्रों का पहनना देखने से; सुवर्ण और चाँदी के बर्तनों में खीर का भोजन करना देखने से एवं श्रेष्ठ पूज्य पुरुषों का दर्शन करने से शीघ्र विवाह होता है।

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार स्वप्नों के फल

यों तो पाश्चात्य विद्वानों ने अधिकांश रूप से स्वप्नों को निस्सार बताया है, पर कुछ ऐसे भी दार्शनिक हैं जो स्वप्नों को सार्थक बतलाते हैं। उनका मत है कि स्वप्न में हमारी कई अतृप्त इच्छाएँ ही चरितार्थ होती हैं। जैसे हमारे मन में कहीं भ्रमण करने की इच्छा होने पर स्वप्न में यह देखना कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हम कहीं भ्रमण कर रहे हैं। सम्भव है कि जिस इच्छा ने हमें भ्रमण का स्वप्न दिखाया है वही कालान्तर में हमें भ्रमण करावे। इसलिये स्वप्न में भावी घटनाओं का आभास मिलना साधारण बात है। कुछ विद्वानों ने इस थ्योरी का नाम Law of probability (सम्भाव्य गणित) रखा है। इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ स्वप्न में देखी गई अतृप्त इच्छाएँ सत्यरूप में चरितार्थ होती हैं, क्योंकि बहुत समय कई इच्छाएँ अज्ञात होने के कारण स्वप्न में प्रकाशित रहती हैं और ये ही इच्छाएँ किसी कारण से मन में उदित होकर हमारे तदनुरूप कार्य करा सकती हैं। मानव अपनी इच्छाओं के वश से ही सांसारिक क्षेत्र में उन्नति या अवनति करता है, उनके जीवन में उत्पन्न होने वाली अनन्त इच्छाओं में कुछ इच्छाएँ अप्रस्फुटित अवस्था में ही विलीन हो जाती हैं, लेकिन कुछ इच्छाएँ परिपक्वावस्था तक चलती रहती हैं। इन इच्छाओं में इतनी विशेषता होती है कि ये बिना तृप्त हुए लुप्त नहीं हो सकती। सम्भाव्यगणित के सिद्धान्तानुसार जब स्वप्न में परिपक्वावस्थावाली अतृप्त इच्छाएँ प्रतीकाधार को लिए हुए देखी जाती हैं, उस समय स्वप्न का भावी फल सत्य निकलता है। अबाधभावानुषङ्ग से हमारे मन के अनेक गुप्तभाव प्रतीकों से ही प्रकट हो जाते हैं, मनकी स्वाभाविकधारा स्वप्न में प्रवाहित होती है जिससे स्वप्न में मन की अनेक चिन्ताएँ गुथी हुई प्रतीत होती हैं। स्वप्न के साथ संश्लिष्ट मन की जिन चिन्ताओं और गुप्त भावों का प्रतीकों से आभास मिलता है, वही स्वप्न का अव्यक्त अंश (Latent Content) भावी फल के रूप में प्रकट होता है। अस्तु, उपलब्ध सामग्री के आधार पर कुछ स्वप्नों के फल नीचे दिये जाते हैं—

अस्वस्थ—अपने सिवाय अन्य किसी को अस्वस्थ देखने से कष्ट होता है और स्वयं अपने को अस्वस्थ देखने से प्रसन्नता होती है। जी० ऐच० मिलर के मत के स्वप्न में स्वयं

अपने को अस्वस्थ देखने से कुटुम्बियों के साथ मेल मिलाप बढ़ता है एवं एक मास के बाद स्वप्न द्रष्टा को कुछ शारीरिक कष्ट भी होता है तथा अन्य को अस्वस्थ देखने से द्रष्टा स्वयं रोगी होता है। डाक्टर सी० जे० ह्विटव के मतानुसार अपने को अस्वस्थ देखने से सुख शान्ति और दूसरे को अस्वस्थ देखने से विपत्ति होती है। शुक्रात के सिद्धान्तानुसार अपने और दूसरे को अस्वस्थ देखना रोग सूचक है। विक्टोनियन और पृथग गारियन के सिद्धान्तानुसार अपने को अस्वस्थ देखना नीरोग सूचक और दूसरे को अस्वस्थ देखना पुत्र, मित्रादि के रोग को प्रकट करने वाला होता है।

आवाज—स्वप्न में किसी विचित्र आवाज के स्वयं सुनने से अशुभ सन्देश सुनने को मिलता है, यदि स्वप्न की आवाज सुनकर निद्रा भंग हो जाती है तो सारे कार्यों में परिवर्तन होने की सम्भावना होती है। अन्य किसी की आवाज सुनते हुए देखना से पुत्र और स्त्री को कष्ट होता है तथा अपने अति निकट कुटुम्बियों की आवाज सुनते हुए देखने से किसी आत्मीय की मृत्यु प्रकट होती है।—डा० जी० एच० मिलर के मत में आवाज सुनना भ्रम का द्योतक है।

ऊपर—यदि स्वप्न में कोई चीज अपने ऊपर लटकती हुई दिखलाई पड़े और उसके गिरने का सन्देह हो तो शत्रुओं के द्वारा धोखा होता है। ऊपर गिर जाने से धन नाश होता है, यदि ऊपर न गिरकर पास में गिरती है तो धन-हानि के साथ स्त्री, पुत्र एवं अन्य कुटुम्बियों को कष्ट होता है। जी० एच० मिलर के मत में किसी भी वस्तु का ऊपर गिरना धन नाश कारक है। डा० सी० जे० ह्विटवे के मत से किसी वस्तु के ऊपर गिरने से तथा गिरकर चोट लगने से मृत्यु तुल्य कष्ट होता है।

कटार—स्वप्न में कटार के देखने से कष्ट और कटार चलाते हुए देखने से धन हानि तथा निकट कुटुम्बी के दर्शन, मांस भोजन एवं पत्नी में प्रेम होता है। किसी किसी के मत से अपने में स्वयं कटार भोंकते हुए देखने से किसी के रोगी होने के समाचार सुनाई पड़ते हैं।

कनेर—स्वप्न में कनेर के फूले वृक्ष का दर्शन करने से मान प्रतिष्ठा मिलती है। कनेर के वृक्ष से फूल और पत्तों को गिरना देखने से किसी निकट आत्मीय की मृत्यु होती है। कनेर का फल भक्षण करना रोग सूचक है तथा एक सप्ताह के भीतर अत्यन्त अशान्ति देने वाला होता है। कनेर के वृक्ष के नीचे बैठकर पुस्तक पढ़ता हुआ अपने को देखने से दो वर्ष के बाद साहित्यिक क्षेत्र में यश की प्राप्ति होती है एवं नये-नये प्रयोगों का आविष्कर्ता होता है।

किला—किले की रक्षा के लिये लड़ाई करते हुए देखने से मानहानि एवं चिन्ताएँ, किले में भ्रमण करने में शारीरिक कष्ट, किले के दरवाजे पर पहरा लगाने से प्रेमिका से मिलन एवं मित्रों की प्राप्ति और किले के देखने मात्र से परदेशी बन्धु से मिलन होता है तथा सुन्दर स्वादिष्ट मान्स भक्षण को मिलता है।

केला—स्वप्न में केला का दर्शन शुभ फलदायक होता है और केले का भक्षण अनिष्ट फल देने वाला होता है। किसी के हाथ से जबरदस्ती केला लेकर खाने से मृत्यु और केले के पत्तों पर रखकर भोजन करने से कष्ट एवं केले के थम्भे लगाने से घर में माङ्गलिक कार्य होते है।

केश—किसी सुन्दरी के केशपास का स्वप्न में चुम्बन करने से प्रेमिका मिलन और केश के दर्शन से मुकदमे मे पराजय एवं दैनिक कार्यों में असफलता मिलती है।

खल—स्वप्न मे किसी खल (दुष्ट) के दर्शन करने से मित्रों से अनबन और लड़ाई करने से मित्रों से प्रेम होता है। खल के साथ मित्रता करने से नाना भय और चिन्ताएँ होती हैं। खल के साथ भोजन-पान करने से शारीरिक कष्ट; बातचीत करने से रोग और उसके हाथ से दूध लेने से सैकड़ों रुपयों को प्राप्ति होती है। किसी-किसी के मत से खल का दर्शन शुभ माना गया है।

खेल—स्वप्न मे खेल खेलते हुए अपने को देखने से स्वास्थ्य वृद्धि और दूसरों को खेलते हुए देखने से ख्याति लाभ होता है। खेल में अपने को पराजित देखने से कार्य साफल्य और जय देखने से कार्य हानि होती है। खेल के मैदान का दर्शन करने से युद्ध में भाग लेना का संकेत होता है। खिलाड़ियों का आपस में मल्लयुद्ध करते हुए देखना बड़े भारी रोग का सूचक है।

गाय—यदि स्वप्न मे कोई गाय दूध दुहने की इन्तजारी मे बैठी हुई दिखलाई पड़े तो सभी इच्छाओं की पूर्ति होती है। गाय का दर्शन जी० एच० मिलर के मत से प्रेमिका मिलन सूचक बताया गया है। चारा खाते हुए गाय को देखने से अन्न प्राप्ति; बछड़ा पिलाते हुए देखने से पुत्र प्राप्ति; गोबर करते हुए गाय को देखने से धन प्राप्ति और पागुर करते हुए देखने से कार्य मे सफलता मिलती है।

घड़ी—स्वप्न मे घड़ी देखने से शत्रु भय होता है। घड़ी के घण्टों की आवाज सुनने से दुःखद सवाद सुनते है या किसी मित्र की मृत्यु का समाचार सुनाई पड़ता है। किसी के हाथ से घड़ी गिरते हुए देखने से मृत्यु तुल्य कष्ट होता है। अपने हाथ की घड़ी का गिरना देखने से छः महीने के भीतर मृत्यु होती है।

चाय—स्वप्न मे चाय का पीना देखने से शारीरिक कष्ट, प्रेमिका वियोग एवं व्यापार में हानि होती है। मतान्तर से चाय-पीना शुभकारक भी है।

जन्म—यदि स्वप्न मे कोई स्त्री बच्चे का जन्म देखे तो उसकी किसी सखी सहेली को पुत्र प्राप्ति होती है तथा उसे उपहार मिलते हैं। यदि पुरुष यही स्वप्न देखे तो उसे यश प्राप्ति होती है।

झाड़ू—यदि स्वप्न में नया झाड़ू दिखाई पड़े तो शीघ्र ही भाग्योदय होता है। पुराने झाड़ू का दर्शन करने से सट्टे मे धन हानि होती है। यदि स्त्री इसी स्वप्न को देखे तो उसे भविष्य में नाना कष्टों का सामना करना पड़ता है।



Om

JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol X
No II

ARRAH (INDIA)

January,
1945,

A CRITICAL EXAMINATION OF ŚVETĀMBARA AND DIGAMBARA CHRONOLOGICAL TRADITIONS

By

Prof—H C. Seth M A. Ph D (London)

Both the *Śvetāmabara* and the *Digambara sects of the Jains* have preserved certain chronological traditions A comparative study of these may yield useful results The most importatnt of these Jain chronologies is the Śvetāmbara one given in Tapāgaccha paṭṭavalī[1] and Merutuṅga s Vicārśrenī[2], which has been made familiar by

---

1 जं रयणिं कालगओ अरिहा तित्थयरो महावीरो ।
तं रयणिं अवणिवई अहिसित्तो पालओ राया ॥१॥
सट्ठी (६०) पालयरण्णो पणवण्णसयं तु होइ नंदाण (१५५) ।
अट्ठसयं मुरियाण (१०८) तीसच्चिय पूसमित्तस्स (३०) ॥२॥
बलमित्त-भाणुमित्ता सट्ठी (६०) वरिसाणि चत्त नहवाणे (४०) ।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस (१३) वरिस सगस्स चऊ (४) ॥३॥

Tapāgachha Paṭṭavalī

2 जं रयणिं कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो ।
तं रयणिमवणिवई अहिसित्तो पालगो राया ॥
(वीरनिव्वाणरयणीओ चइज्जओयरायपदम्मि ।
उज्जेणीए जाओ पालयनामा महाराया ॥)
सट्ठी पालगरण्णो पणवन्नसयं तु होइ नन्दाणं ।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसच्चिय पूसमित्तस्स ॥

European scholars like Bühler, Jacobi and Charpentier. This tradition puts Mahāvīra Nirvāna 470 years before the Vikrama era. As the beginning of the Vikrama era synchronises with 58 B.C. this tradition gives 528 B C as the date of Mahāvīra Nirvāṇa. This tradition also records that Mahāvīra died on the same night as Pālaka was anointed king in Avantī, and 470 years between Mahāvīra Nirvāna and the commencement of the Vikrama era are made up of the reign-periods of the following kings and dynasties :

			Years.
Pālaka	...	...	60
Nandas	...	...	155
Mauryas	...	...	108
Pusyamitra	...	.	30
Balamitra and Bhānumitra		...	60
Nahavāṇa or Nahavahaṇa		...	40
Gardabhilla	...	...	13
Śakas	...	...	4
			470

After this in Merutuṅga's Vicārśreṇī we have 135 years assigned to Vikramāditya and his dynasty, after which, or 605 years after Mahāvīra Nirvāna, comes the Śaka king who displaces the dynasty of Vikramāditya.

Much credit has not been given by modern scholars to the Jain traditional date of 528 B.C. for the death of Mahāvīra, as this date puts too big a gap between Buddha, who as is now generally believed died within a few years of 480 B. C, and Mahāvīra to make them contemporaneous, which fact is so clearly implied in both the Buddhist as well as the Jain traditions. But unfortunately the whole of this chronological tradition is lightly set aside as useless. As jarl

बलमित्त-भाणुमित्ताण सट्ठि वरिसाणि चत्त नहवहणे ।
तह गद्धभिल्लरज्जं तेरस वासे सगस्स चऊ ॥
विक्कमरज्जाणंतरसत्तरसवासेहि वच्छुरपवित्ती ।
सेसं पुण पणतीससयविक्कमकालम्मि य पविट्ठं ॥
विक्कमरज्जारंभा परओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया ।
सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो ॥
श्रीवीरनिवृतेर्वर्षैः षड्भि. पञ्चोत्तरै शतैः ।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत्॥

Merutuṅga's Vicārśreṇī.

Charpentier observes, "The Jains themselves have preserved Chronological records concerning Mahāvīra and the succeeding pontiffs of the Jain church, which may have been begun at a comparatively early date. But it seems quite clear that at the time when these lists were put into their present form the real date of Mahāvīra had already either been forgotten or was at least doubtful The traditional date of Mahāvīra's death on which the Jains base their chronological calculations corresponds to the year 470 before the foundation of the Vikrama era in 58 B.C, i.e 528 B.C This reckoning is based mainly on a list of kings and dynasties who are supposed to have reigned between 528 and 58 B C but the list is absolutely valueless, as it confuses rulers of Ujjain, Magadha, and other kingdoms and some of these may perhaps have been contemporary, and not successive as they are represented [1]

It is not correct to treat these Jain chronological traditions as referring to the kings of Magadha In fairness to these traditions it should be noted that all the kings and dynasties mentioned in these are definitely known to be connected with Central and Western India, of course, some of them ruled over a big empire covering other parts of India including Magadha It may be useful to estimate the truth underlying these traditions by comparing them with other Jain chronological traditions and also with the Paurāṇic and the Buddhist traditions bearing on them We must however remember, as pointed out by Merutunga[2], that in these traditions complete dynastic list in each case is not given and sometimes only certain important ruler is mentioned, and under his name total reign of the whole dynasty given

We have another Śvetāmbara Jain chronological tradition, slightly different than the above given in Titthagolipainnaya which gives the following chronology[3] •

1 Cambridge History of India Vol I P 155 156 See also IA Vol. XLIII P 118 ff

2 इह यदा यो राजा यथाविमानभूत्, तदा—
तस्य राज्यं गण्यते, न तु पट्टानुक्रम । Vicārasreṇi.

3 जं रयणि सिद्धिगओ अरहा तित्थकरो महावीरो ।
त रयणि मवतीए अभिसित्तो पालओ राया ॥१२०॥
पालगरण्णो सट्ठी पुण पणसमय वियाणि न दाणं ।
मुरियाणं सट्ठिसयं पणतीसा पुस्समित्ताणं (त्तस्स) ॥१२१॥

Pālaka	...	...	60 years
Nandas	...	...	150 „
Mauryas	.	..	160 „
Puṣyamitra	...	...	35 „
Balamitra & Bhānumitra		...	60 „
Nabhasena	...	...	40 „
Gadabhas	...	...	100 „

This tradition also places the Śaka king after Gadabhas, 605 years after Mahāvira's Nirvāṇa.

The Digambara sect of the Jains has preserved chronological traditions, which excepting in one or two important respects are not far different from the Śvetāmbara ones given above. Tiloyapaṇṇati[1] and Jinsena's Harivaṁśa Purāṇa[2], important Digambara

---

बलमित्त-भाणुमित्ता सट्ठा चत्ता य हौंनि नभसेणो ।
गद्दभसयं एकं पुण पडिवन्नो तो सगो राया ॥६०२॥
पंच मासा पंच य वासा छच्चेव हौंति वाससया ।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो तो उप्पन्नो सगो राया ॥६२३॥

Shantilal Shah: "The Traditional Chronology of the Jainas." P 16 f

Shah regards Titthagolipainnya as the oldest Jain Chronological work. He assigns it to the early part of the fourth century A D.

The above verses from Tithagolipainnya are also quoted by Muni Darshan Vijya in his "Pattavali Samucaya" P 197.

1 जक्काले वीरजिणो णिस्सेयससंपयं समावण्णो ।
तक्काले अभिसित्तो पालयणामो अवंतिसुदो ॥१५०५॥
पालकरज्जं सट्ठि इगिसयपणवण्ण विजयवंसभवा ।
चालं मुरुदयवंसा तीसं वस्सा सुपुस्समित्तस्स ॥१५०६॥
वसुमित्तअग्गिमिता सट्ठी गंधव्वया वि सयमेक्कं ।
णरवाहणा य चालं तत्तो भत्थट्ठणा जादा ॥१५०७॥
भत्थट्ठणाण कालो दोण्णि सयाइं हवंति बादाला ।
तत्तो गुत्ता ताणं रज्जे दोण्णि य सयाणि इगितीसा ॥१५०८॥
तत्तो कक्की जादो इंदसुदो तस्स चउ मुहो णामो ।
सत्तरि वरिसा आऊ विगुणियइगिवीस रज्जंतो ॥१५०९॥

णिव्वाणे वीराजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु ।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा ॥१४९९॥

Tiolyapannati (Jivaraja Granthmala. Sholapur, under print.)

2 वीरनिर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषिच्यते। लोकेऽवंतिसुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः ॥४८७॥
षष्टिवर्षाणि तद्राज्यं ततो विजयभूभुजां। शतं च पंचपंचाशद्वर्षाणि तदुदीरितं ॥४८८॥
चत्वारिंशत्पुरूढानां भूमंडलमखंडितं । त्रिंशत्तु पुष्पमित्राणां षष्टिर्वस्वग्निमित्रयोः ॥४८९॥
शतं रासभराजानां नरवाहनमप्यतः । चत्वारिंशत्ततो द्वाभ्यां चत्वारिंशच्छतद्वयं ॥४९०॥

texts, give the following chronology —

	Year
Pālaka	60
Vijya Kings (Nandas?)	155
Muruda Kings (Mauryas?)	40
Puṣyamitra	30
Vasumitra and Agnimitra	60
Gandhavas or Rāsabhas ...	100
Narvahāna	40
Bhathaṭṭhaṇa	242
Guptas	231
Kalki	42

This tradition thus gives 1000 years between the death of Mahāvīra and the end of the reign of Kalki These Digambara texts also separately record that 605 years elapsed between Mahāvīra Nirvāna and the Śaka king, but unlike the Śvetāmbara ones, they do not give any details of the reign period during this interval

All the Jain traditions given above assign 60 years to Pālaka. This may include not only the reign period of Pālaka but also of his descendents Sixty years of the reign period for Pālaka is implied by the tradition reported by Hemacandra who says that Nanda became king sixty years after Mahāvīra Nirvāna[1] This probably refers to Nandivardhana, who succeeded Pālaka's dynasty in Ujjain

भद्रबाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयं । एकविंशच्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतं ॥४९१॥
द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता । ततोऽजितंजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः ॥४९२॥
वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पञ्चाग्रं मासपंचकं । मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥५५१॥
मुक्तिं गते महावीरे प्रतिवर्षसहस्रकं । एकैको जायते कल्की जिनधर्मविरोधकः ॥५५२॥

Jinasena Harivamśa Purāna Ch 60

In the manuscript of this work used by K. B Pathak, Guptas are given 231 years गुप्तानां च शतद्वयम् । एकत्रिंशच्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम् ॥
(In Ant Vol XV P, 142)

If we assign 231 years to the Guptas then only we shall get 1000 years mentioned in these traditions as the interval between the death of Mahāvīra and that of Kalki 231 years for the Guptas also given in Tiloyapaṇṇati appear to be the correct version

The Ms used by Pathak has Muruda instead of Puruda and Bhaṭṭavāṇa instead of Bhadravāna The Ms used by Jayaswal (In Ar Vol 46) has Vijya instead of Vishya and Bhaṭṭavāna instead of Bhadravāṇa

1 अनन्तरं वर्द्धमानस्वामिनिर्वाण—वासरात्
गतायां षष्टिवत्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृपः (परि० ६, २४३)

The Purāṇas record conflicting chronologies for the Pradyota dynasty. However certain Paurāṇic traditions seem to indicate that five kings in Pradyota line, all of whom appear to be his sons, perished after a reign of 52 years[1]. This comes near the sixty years assigned to Pradyota's son Pālaka in the Jain traditions.

As regards the Nandas the Jain traditions given above assign to them a period of 155 or 150 years. On the other hand, as noticed above, Hemacandra gives 155 years between the death of Mahāvīra and the accession of Candragupta Maurya[2], which may not be far from truth. If we knock out of this period 60 years assigned by him as the period between the death of Mahāvīra and the accession of the Nanda King, it will leave 95 years for the Nandas. The ceylonese Buddhist traditions seem to give 90 years to the same dynasty[3]. The Purāṇas again record conflicting chronological traditions about the Nanda dynasty. But a total of hundred years for all the Nandas is suggested by certain Paurāṇic traditions, which say that after the Nandas had reigned for one hundred years Kautilya uprooted them, and the sovereignty passed on to the Mauryas[4]. This may be more or less correct tradition.

As regards the Mauryas there seems to be great uncertainty about their reign-period in the Jain traditions given above One Śvetāmbara tradition assigns 160 years to the Mauryas another 108 years, and the Digambara traditions assign to this dynasty only 40 years The last seems to be of no value as the reign-period of the first three great Mauryas, Candragupta, Bindusāra and Aśoka, itself comes to 85 years according to the unanimous tradition recorded in

---

1 Pargiter DKA. P. 68

2 एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते ।
पंच-पंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥ (परि, ८, ३३९)

3 Susunāga ... 18.
Kālāsoka ... 28,
Ten sons of Kālāsoka ... 22.
Nine Nandas 22. Cam. Hist of India, Vol I. P. 189.

Susunāga of the Buddhist traditions has been correctly identified with Nandwardhana and Kālāsoka with Mahanandin by S,N, Pradhan, "Chronology of Ancient India" P, 220 ff,

4 Pargiter, DKA, P. 69.

the *Puranas*[1], and 93 years according to the Ceylonese Buddhist traditions[2] There is also no doubt, as is evidenced by inscriptional records as well as the traditional accounts, that the rule of these first three great Mauryas extended to Central and Western India The association of Samprati grandson of Aśoke and a great patron of Jainism with Central and Western India is also very strongly attested by the Jain traditions[3] Only in certain Purānas we get a complete record of the chronology of the Maurya kings, which is as follows[4]

Candragupta	24 years
Bindusara	25 „
Aśoka	36 „
Kunāla	8
Bandhupālita	8 „
Daśona	7 „
Daśaratha	8 „
Samprati	9 „
Śāliśuka	13 „
Devadharman or Devavarman	7 ,
Śatadhanvan	8 „
Bṛthadratha	7 „
Tatal	160 years

Against this total of 160 years contained by adding the reign-periods of the various Maurya Kings Some of the Purānas give a total of 137 years for the Maurya dynasty A comparison of the Paurānic and the Jain traditions concerning the reign period of the Mauryas will make us give more credit to a total reign period of 160 years to this dynasty In any case it must be noted that if we assign 100 years to the Nandas and 160 years to the Mauryas we get a total of

1 The *Purāṇas* give the following reing periods for these monarchs Candra gupta 24 years Bindusāra 25 years Aśoka 36 years
Pargiter DKA P 70

2 The traditions as preserved in Mahāvamśa give the following chronology of the reign of these three kings
Candragupta 24 years, Bindusāra 28 years Aśoka 41 years
(Four years before his coronation and 37 years after it.)

3 We gather from the Jain work Dipalike Kalpa of Jinsundara that Samprati became king of Ujjain 300 years after Mahāvīra Nirvāṇa
दिनतो मम मोक्षस्य गने वर्षशतत्रये । उज्जयिन्यां महापुरा भावी सम्प्रति भूपति ॥

4 Pargiter DKA
Also compare Cam Hist. of India Vol I P 511

260 years for these two dynasties, which is very near 263 years (155 + 108) assigned to these two dynasties in the traditions recorded in Tapāgaccha Paṭṭavalī and in Merutuṅga's Vicārśreṇi.

After the Mauryas all the Jain traditions except one assign 30 years to Puṣyamitra, and after him some traditions assign 60 years to his son and grandson, Agnimitra and Vasumitra, others assign these 60 years to Balamitra and Bhānumitra, who also, appear to belong to the Śuṅga dynasty. Against the 90 years assigned to the Śuṅgas in the Jain traditions, the Purāṇas assign a total reign-period of 112 years to this dynasty. This discrepancy between the Jain and the Paurāṇic total for this dynasty may be due to the fact the Jain traditions give its reign-period in Central and Western India, where as the Paurāṇic traditions record the total reign-period of the dynasty of Magadha. As suggested by the rise of the Andhras the influence of the Śuṅgas ceased earlier in Central and Western India than perhaps in Magadha and Eastern India The Sāñchī inscriptions of the Andhra king Śātakarṇī[1] may indicate that the influence of this dynasty had reached Central India in the first Century B. C. On the other hand "it is indeed doubtful if the Andhras ever ruled in Magadha"[2] Ninety years of the reign-period in Central and Western India assigned to the Śuṅgas in the Jain records may be a correct tradition.

So far from Pālaka down to the end of the Śuṅgas the dynastic succession list, apart from differing reign-period in certain cases, is the same in all the Jain traditions. It is after this that serious discrepancy appears. amongst the various Jain traditions The Śvetāmbara traditions quoted above from Merutuṅga's Vicārśreṇī, Tapāgachha Paṭṭavalī and Titthagolīpainnaya place 40 years of Nahavāṇa after Balamitra and Bhanumitra. After Nahavāṇa Tappāgachha Paṭṭavalī and Vicārśreṇī assign 13 years to Gardabhila and 4 to the Śakas.

To be continued.

1 Lūders, 'List of Brahmi Inscriptions No. 346'.

2. Cambridge History of India Vol- I. P, 224,

TAVANIDHI AND ITS INSCRIPTIONS*

By

Prof Dr A N Upadhye

Tavanidhi is a Jaina holy place, situated on the left side of Poona to Bangalore road, a couple of miles to the south of Nipani in the Belgaum District Its name is variously written Tavanidhi, Stavanidhi, Tavandi, Tavadi etc There is a village called Tavandi on the top of the hillock in the angular valley we have a huge stone building containing a row of temples, five in number, and this holy shrine is lately famous as Śrī Kṣetra Stavanidhi There is a huge stone enclosure with a series of rooms going round (*Pauli* as it is called) lately, however, the Eastern wall is fallen Within the enclosure there is a Mānasthambha in front of the central temple and in the corner there is a water tank lately constructed This constitutes the main shrine Outside this area, but still a part of this holy place we have (Kūga) Brahmanātha on the slope of the opposite hillock and there is a small temple of Padmāvatī, near the lake at a distance of a couple of furlongs to the North of the main shrine Every month on the day of Amāvāsyā many Jainas from Northern Karnāṭaka and Southern Mahārāṣṭra visit this place and once in a year there is a big fair which attracts many Jaina families from longer distances Lately some fresh buildings are built and a Gurukula is started there

The row of temples faces the East. It falls into three units with two common full walls The two units on both the sides contain two niches each Starting from the right, the first niche contains the image of Brahmanātha or Kṣetrapāla all literally covered or besmeared with Sendūra and oil The second niche contains the stone image of Śāntinātha in a seated posture with Yakṣa and Yakṣī, its appearance is quite old The central temple contains a stone idol of Pārśvanātha in standing posture, with Yakṣa and Yakṣī. It is much damaged one suspects that the broken pieces are put together Possibly on account of this, the image is called Nava khaṇḍa Pārśvanātha It is also called Cintāmaṇi Pārśvanāth Some legends are associated with it and I am trying to collect them from oral sources The fourth niche contains the stone idol in standing posture of Ādinātha with Yakṣa and Yakṣī It is of black stone, the polish is gone, and its appearance is quite old I could not trace

any inscription in the temples described above. Coming to the last temple, which would be the first from the left side, there are two images, one on the upper *pīṭha* and one on the lower *pīṭha*. The image of Pārśvanātha on the upper *pīṭha*, though smaller in size, is no doubt older in age and also the earlier occupant of that temple. On its bace we have a short inscription in Old-kannaḍa characters; it is partly effaced, but the following letters could be read :

श्रीम * द्राविडसंघद * .

The image on the lower *pīṭha* is also of Pārśvanātha, in a standing posture, with seven hoods, with *prabhā-vali* and with Yakṣa and Yakṣī. The image is quite attractive and commands devotion. The appearance is old and the polish is fine. On its bace we have two Kannaḍa inscriptions, written at different times. The handwriting clearly betrays the difference in age. The first, whose characters are definitely old, runs thus in four lines :

[१] श्रीमूलसंघ देशियगण पुस्तकगच्छद श्रीवीरणंदि
[२] सिद्धांतचक्रवर्त्तिदेवरशिष्यसेनरसन मुत्तव्वे ल
[३] च्चेयादेवियक माडिसिद बसदि [।] रूवारि
[४] जिण्णोजं माडिद प्रतिमे मंगल महा श्री श्री [॥]

Then there is a second inscription which runs thus :

[१] स्वस्ति श्रीलक्ष्मीसेनभट्टारकस्वामि संस्थापित श्री पार्श्वनाथः शके १८०२
[२] विक्रमनामसंवत्सरे चैत्र शु ॥१२॥ शुभलग्ने

This second record tells us that the image was installed (at Tavanidhi) by Śrī Lakṣmīsena Bhaṭṭāraka in Śaka 1802 (+78=1880 A.D.), Vikrama year, Caitra Śuddha 12. This event of Pratiṣṭhāpana is still within memory of some elderly people. The presentday Śrī Lakṣmīsena Bhaṭṭārakaji tells me that this image was found near about Hukeri (Belgaum District); and that his predecessor brought it to Tavanidhi and installed it there after performing a *pratiṣṭhā-mahotsava*

The first inscription is more important, because it is as old as the image itself. It gives the following information : The image was carved by the architect Jinnoja; the temple (in which it was first installed) was caused to be built by Lacceyādevi, the grand-mother of Senarasa; this Senarasa was a pupil of Vīraṇaṁdi Siddhānta Cakravarti of the Pustaka-gaccha, Deśiya-gana, and Mūlasaṁgha.[1]

The recording of this inscription is simultaneous with the carving of this image, and we have to see whether we can settle the date of it.

I am inclined to suggest that in all probability the ācārya mentioned in the record in the same as Vīranandi, the author of Ācārasāra, who is also styled Śrīmad Vīranandi Saiddhānti-Cakravarti[1] It is not difficult to settle his age He wrote a Kannada commentary on his own Ācārasāra in Śaka 1076 (+78=1154 A D) Thus he flourished about the middle of the 12th century A. D It is to this period, consequently, we should assign the Pārśvanātha image on the lower *pītha* The appearance of the Kannada characters also confirms this age

Though the image of Pārśvanātha, the date of which is settled above, stands to-day at Tavanidhi there is no doubt that it had no connection with that holy place before Śaka 1802 when it was brought from outside and established there by Śrī Lakṣmīsena I am trying to get more information about the original place of this image Its age does not in any way shed light on the antiquity of Tavanidhi as a holy place, and this question has to be studied from other sources

To-day Tavanidhi is famous for Brahmanātha or Kṣetrapāla, and from what I hear from elderly people, it has been a *kṣetra* for the last one hundred years or so Let us see whether we can push this period backward with literary and epigraphic evidence

(1) Sīlavijaya a Śvetāmbara Jaina monk visited various Jaina holy places of Deccan in Saṁvat 1731-32 (−57=1674 A.D) and wrote an account called Tīrthamālā[2] He refers to Tavanidhi (wrongly written as Navanidhi) rather casually along with Rāyabaga and Hukeri The contemporary ruler was Śivaji

(2) Then going still earlier, Nayasena in his Kannaḍa Dharmāmṛta (composed on Sunday 25th August 1112 A D) refers to Pārśvanātha at Tavanidhi[3] Apparently this is not a reference to the image of Pārśvanātha which was brought there from outside in Śaka 1802 The characters of the inscription on the smaller image look older than those on the bigger image in the last temple. So Nayasena has in view either the smaller image of Pārśvanātha in the last temple or the Cintāmaṇi Pārśvanātha in the central temple.

Thus Tavanidhi is known to be a holy place with the image of Pārśvanātha at least from the days of Nayasena i.e., beginning of the 12th century A D I request other scholars to shed further light on the antiquity of this Kṣetra

1 About Vīranandi see Jaina Hitaishī XII pp 213 f Introduction to the Ācārasāra, Bombay Saṁvat 1974 Karnāṭaka Kavicarite Vol I, p 168

(2) Premi Jaina Sāhitya aura Itihāsa, p 239

(3) Sharma Sources of Karnataka History Mysore 1940, pp 187-88

of worship, the Hindu cults of the Pouranic age, from about the 4th century B. C. The first of the main Pouranic cults was the Vaisnavite worship of Krisna Vasudeva, followed by Siva worship, and later on by Rama worship.

The original vedic religion was a simple materorealistic form of religion, worshipping the various forces of Nature - that concerned man most under the names of Indra, Varuna, Marut, Vishnu, Rudras, and so on. It had no idols of these gods, nor any temples attatched to them These gods were also, by no means, human. They were propitiated by means of devotional hymns nnd various kinds of sacrificial ceremoniale

The Rudras were a later conception in the vedic pantheon, and were ugly rude spirits, haunting woods, wilds, and cremation grounds, wrathlessly reigning scourges on the evildoers, or better, on the enemies of the vedic Aryans, but of these Rudras the conception of Siva was evolved, and gradually a suitable iconography and mythology was provided, based largely on the aboriginal and later beliefs and superstitions of the natives of India.

In the Kanerki coins of the Indo-seythian's kings of the North-West, Siva came to figure for the first time. A close study of these coins, belonging to the first and second centuries of the Christian era, clearly shows how the Saivite conception and iconography were gradually developed. (cf. J.R.A.S Vol IX).

Now, in the vedas or the later vedic literature, we find no mention of Siva, or of his weapon the Trisul, or of the trident as a sacred symbol. Even Panini of the 5th, Kautilya of the 4th, Magesthenese and other Greek writers on India of the 3rd, or the epigraphical and numismatic records prior to the christian era, do not contain any reference to Siva, or the Tridend as Siva's weapon or emblem. The trident came to appear in the Hindu religious art after the beginning of the Christian era.

In a footnote on p. 15 of his "Early faith of Asoka", Mr. E. Thomas says "No less acute is Dr. Stevenson's analysis of the position traditionally held by Siva in India—his absence 'from the original Brhamonical theogony', his imperfect assimilation with the later forms of their ritual, and the conclusion 'that the worship of Siva is nothing more than a superstition of the aboriginal Indians, modified by the Brhmins, and adopted into their system' for their

own ends An opinion which has been fully confirmed by later investigations

General cunningham in his work on 'Bhilsa Topes' (p 358) long ago pointed out the absolute identity of the outline of the modern figure of Jagannath (at Puri) with the Trisul or curved trident ornament so frequently in the early Budhist sculpture Mr Fergussan in his 'Tree and Serpent worship tells us that this symbol forms a distinct object of worship at Amradi

Now it is an equally definitely established fact that this early Budhist art too, including the sculptured railings of Sanchi, Barhut and Amradi stupas does not date prior to the early centuries of Christian era

As regards the temple of Jagannath, at Puri in Orissa, the image and the temple dates back to about a thousand years, (cf, Account of the temple of Jagannath—1898) while all the historians are unanimous on the point that this province—Orissa (or Kalinga), was a great stronghold of Jainism from at least the time of lord Mahavira right upto the close of the first millennium after christ The Khandgiri—udaigiri caves of Orissa of the 3rd and 2nd centuries B C, with all their epigraphical treasures have been conclusively proved to have belonged to the Jains (cf J N I—p 247) Competent scholars antiquarians, and archaeologists like O Malley, Manmohan Chakravarti Bloch, fergusson, Smith, Coomaraswami and others have generally accepted it as a fact Mr Chakravarti says "After having examined the caves carefully during my visit I have come to the conclusion, so far as the present data are available they should be ascribed to the Jainas and not to the Budhists" Mr, Bloch says "The caves contain nothing Budhistic but apparently all belong to the Jains." Mr, Fergusson asserts "Till comparatively recently they were mistaken for Budhist but this they clearly never were And these famous caves contain besides other sacred symbols like the stupa, the Swastika, the Dharmchakra the barred railings and railed trees etc several Trisulas, open as well as pointed Mr Buhler is of opinion that the worship of these sacred symbols, more or less distinct traces of which are found with all sects, as well as their representation in sculpture was due to one sect alone (meaning Jainism) instead of being heirlooms handed down from remote times before the beginning of the historical period of India

Furthermore, in the excavations of Basadh (ancient vaisali) certain seals have been discovered which contain Trisulas and other symbols, and which are believed to be belonging to the Jains. (cf Report of Archaeological survey of India 1903—4; & J. R. A. S. 1902) These findings also date back to pre-Christian times, while the site is believed to be that of lord Mahavira's birthplace (cf. सिद्धान्त-भास्कर भाग १० पृ० ६९)

As to the origin of the sign (Trisul), Mr. Burnong has detected the coincidence of the form of Vardhmanakya, or the mystic symbol of Mahavir with the outline of the Bactro-Greek monogram so common on the local coins. It is similar to the figure so frequently found on the reverse side of Kadphise's coins. This particular mark, Mr. E. Thomas tells us, has been found in all its integrity on the person of an ancient Jaina statue in the Indian Museum. And he, therefore, asserts that as the lion proves to have been a special emblem of Mahavira, the mystic trident in its turn answered to his second title of Vardhaman.

Moreover, this Vardhamanakya is akin in form to another Jaina sacred symbol, Nandyavarta which signifies the sign of Taurus or Bull which is a special emblem of Lord Rishabha, the first tirthankar.

It is also the opinion of eminent archeaologist like Dr. V. S. Agarwal, that prior to the conception and at least to the general prevalence of image worship, with particular reference to Jainism, symbol worship was in vogue, (cf. U. P. Historical quarterly 1944). And iconographical experts like Mr. C. Bhattacharya attest to the original and elaborate system of symbolization found in Jainism from the earliest times (cf. Jaina Iconography).

To revert to the Trident, besides being attatched to the first and the last Jaina Tirthankaras, in the form of the Nandyavart and the Vardhmand respectively, it has a very important significance in the Jaina Philosophical system This symbol is a very appropriate representation of the threefold path to salvation, by an adequate exercise of the control on, and an absolute concentration of the three faculties of mind, word and body. (cf. Anekant, year 5, no. 1 & 2 p. 8). In other words it symbolizes the original qualities of the soul, viz. Right faith, Right knowledge, and Right conduct, which though independent and distinct, but when developped to perfection and amalgamated into one harmonious whole, are the surest way to salvation. to the annithilation of the inimic karmic forces and the achievement of freedom from those karmas, to the end of all trans-migrations, to the attainment of absolute perfection, the state of all Bliss the very Godhood. (cf. Tathwarth sutra chap. I, sutra I). (Contd.)

RULES.

1 The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half yearly Journal which is issued in two parts, *i e*, In year

2 The inland subscription is Rs 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4s. 8*d* per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1-8 0

3 Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made

4 Any change of address should also be intimated to him promptly

5 In case of non receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication the office at Arrah should be informed at once.

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, geography art, archaeology iconography, epigraphy, numismatics, religion literature philosophy, ethnology folklore, etc., from the earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles, notes, etc., typewritten, and addressed to K P Jain, Esq M R. A S, Editor, 'Jaina Antiquary Aliganj Dist Etah (India)

8 The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc

9 The rejected contributions are not returned to senders or postage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India)

11 The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology —

Prof HIRALAL JAIN, M A LL.B
Prof A N UPADHYE, M A, D Litt
B KAMATA PRASAD JAIN, M R A S
Pt K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) और विदेश के लिये ४॥ है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिकरूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं —

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए, एल.एल.बी.
प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए, डी. लिट.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.
पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.